मुक्ति-दान

(आदर्श सामाजिक उपन्यास)

लेखक—

श्री सिद्धविनायक द्विवेदी

प्रकाशक

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

ज्ञानवापी, बनारस ।

मूल्य १।।)

मुक्ति-दान

विक्रम ने पास पड़ी हुई घास फूस पर अरणि मन्थन कर के आग प्रज्वलित कर दी।

क्षण भर अपलक दृष्टि से उस तारों भरी एकान्त रजनी की शून्य माया को विस्मय-विमुग्ध-सा देखता हुआ जलती हुई अग्नि की लपटों में दो बूँद आँसू गिरा दिये और तब मुड़कर बोला—राजेश्री! लो, इन कन्दों को भून कर फलाहार करो। हम वनवासी हैं, हमारा आहार-विहार इन्हीं पर्वतों की दयालुता और दान पर निर्भर है। कल देखूँगा, यदि तुम्हारे लिये भर पेट भोजन जुटा सका तो............

बीच ही में बात काटकर राजेश्री बोली—आप मेरे लिये इतने उद्विग्न क्यों हो जाते हैं। मैं देखती हूँ, कभी-कभी आपका सारा यम-नियम-संयम भंग हो जाता है। मेरे हाड़-मांस के इस तुच्छ शरीर को इतना महत्व क्यों देते हैं? क्यों आपको मेरा मोह भूत बनकर सताया करता है चिन्ता तो तब होनी चाहिये जब आप अपने खान-पान एवं सुख-साधनों को जुटाने में लगे हों और मेरे लिये भले ही इन कन्दों का भोजन हो।

विक्रम वहीं घास पर लेट गया और अपनी दृष्टि राजेश्री की ओर घुमा ली। उस प्रगाढ़ अन्धकार में वह राजेश्री को इतनी तीक्ष्ण दृष्टि से देखने लगा जैसे वह राजेश्री के हृदय की सम्पूर्ण हलचल के बीच हृदय के निम्न तल में एक ऐसी शान्ति एवं गम्भीर गुरुता की झलक पा रहा हो जो केवल स्थित-प्रज्ञ के लिए सम्भव हो।

विक्रम ने कहा—राजेश्री! एक काँटा हृदय में ऐसा चुभ गया है जो मुझे मृत्यु की नीरव गोद में लिटा कर ही अपनी चुभान की पीड़ा को कम कर सकेगा। मैं नहीं जानता कि मेरे जीवन में कोई ऐसा क्षण भी आने वाला है जिस क्षण इस कांटे की कसक निकल जायगी किन्तु एक क्षण के लिये मैं यह सोचता हूँ कि यदि वह क्षण प्राप्त हो सका तो तुम्हें पुरस्कृत

करूँगा। तुमने मेरे साथ रहकर जो-जो कष्ट उठाये हैं, उन पर विचार करने से मेरा हृदय विगलित हो जाता है। पहाड़ों और इन कंकरीली रेतीली एवं कंटकाकीर्ण जन-शून्य वन-वीथियों में घसिट-घसिट कर तुमने जो-जो कष्ट उठाये हैं, वह मेरे मानस पुरुष की कठोरता को पानी की तरह बहाये जा रहा है। मेरा पुरुषार्थ मुझे धिक्कार-धिक्कार कर कह रहा है मैं तुम्हें सुखी न बना सका। मणियों की माला बन्दर के गले में आकर लटक गयी। उसने माला को मूल्यहीन जानकर उसे विशृंखलित कर दिया। उसके दाने पग-पग पर बिखेर दिये। उसे भान ही न रहा कि कुबेर वन जाना भी सौभाग्य की बात है।

राजेश्री समीप आकर जैसे ही विक्रम के शिर को स्पर्श करना चाहती थी, त्यों ही विक्रम ने कहा—जाओ पहले फलाहार की तैयारी करो। रात टूट चुकी है, विराम के लिये समय बहुत थोड़ा है। हम लोगों को इस स्थल से ऊषा-दर्शन के समय तक यात्रा प्रारम्भ कर देनी होगी।

राजेश्री, जो विक्रम से कुछ कहने और समझने के लिये उसके पास आई थी, चुपचाप उलटे पैरों लौट कर आग के पास बैठ गयी और कन्दों को भूनने लगी। राजेश्री अपने कार्य में इस प्रकार व्यस्त हो गयी कि उसे भान ही न रहा कि कब विक्रम उस स्थल से उठकर एक ओर चला गया। शनैः शनैः उसने सारे कन्द भून डाले और शीतल जल से धो-धो कर पर्ण पात्र पर रख दिये।

राजेश्री का भोजन सम्बन्धी कार्य केवल इतना ही अवशेष था कि यदि विक्रम भोजन कर ले तो वह भी फलाहार से निवृत्त होकर शान्तिपूर्वक विश्राम करे।

अन्धकार भी धीरे-धीरे कम हो चला था। नवमी का चांद दो प्रहर रात्रि व्यतीत होते ही क्षितिज के कोने पर दीख पड़ा था। उसकी रजत किरणें सम्पूर्ण धरित्री में व्याप्त होने के लिये अनन्त पथ पर बड़ी द्रुत गति से फैल रही थीं। तारों की झिलमिलाहट चन्द्र की ज्योत्स्ना में अन्त-र्निहित होती जा रही थी जैसे विलासी की दग्ध वासना निष्काम प्रेमी की अखिल स्नेह धारा में निमग्न होकर अस्तित्वहीन हो जाती है।

राजेश्री गर्दन घुमा कर जैसे ही विक्रम को पुकारना चाहती थी, देखा कि विक्रम हैं ही नहीं। वह जैसे सब कुछ समझ गयी। वह फलाहार को वहीं पत्तलों में पड़ा छोड़कर झरने की ओर चली। उसने देखा कि कलरव से उछलता फांदता झरना बेरोक गति से बहता चला जा रहा है। उसकी शुभ्र फेनिल धारा में रजत किरणें पड़-पड़ कर अनुपमेय सौन्दर्य को सृजन कर रही हैं। विक्रम निर्निमेष दृष्टि से प्रकृति दर्शन करने में संलग्न है। वह चुपचाप विक्रम के पीछे जाकर खड़ी हो गयी।

राजेश्री कुछ क्षणों तक स्वप्न लोक में विचरने वाले की भाँति काया ज्ञान से शून्य हो गयी। विक्रम की समाधिस्थ भावना को देखकर राजेश्री को भी अपनी ओर दृष्टिपात करने का समय मिला। वह सोचने लगी— आज वह वास्तविक जीवन से बहुत दूर है। विक्रम के जीवन के इतिहास के साथ अपने निज के अस्तित्व को खोने का जो प्रयास वह कर रही है, क्या सम्भव है, कि प्रयास की सफलता पर विक्रम उसे अपने जीवन का साझीदार मान ले। यदि विक्रम नहीं ही माने तो भी उसका क्या वश है। आज वह सम्राट पुत्री बनकर भी विक्रम की दृष्टि में अपनी महत्ता को नहीं तोल सकी है। विक्रम उसका मूल्याङ्कन करने में उसे किस कसौटी पर कस रहा है, क्या वह कुछ भी समझ पा रही है?

विक्रम जो अबतक खड़ा था, तनिक-सा आगे बढ़कर झरने के पास बैठ गया। राजेश्री भी उस स्थल से खिसक कर तनिक आगे बढ़ आई। पर उसकी विचारधारा में कोई अन्तर न पड़ा। वह मन ही मन कहने लगी—पाँव पयादे, न जाने, उसे अभी कितना और चलना है? विक्रम की यात्रा भी, न जाने, कैसी यात्रा है? वह इन दुरूह पहाड़ियों की खाक छानता हुआ किस व्यापार में निमग्न है, कुछ समझ में नहीं आता। राजेश्री एक ही वर्ष पहिले गुलाब जल से स्नान करती थी। सुवासित वायु की झोंकों की सुगन्ध उसकी श्वास प्रश्वास से उतर कर उसके शरीर को मदमाता बनाया करती थी। वह सुनहले स्वप्नों की नींद में सोती थी। वन्य पक्षी की भाँति चहक चहक कर जीवन में चञ्चल बनी रहती थी। वह जीवन, हां वह जीवन वायु की भांति बहता रहा करता था। रुकना,

सोचना, विचारना उस जीवन का कार्य न था। राजे श्री अपने लिए न कुछ सोचती थी न विचार करती थी। उसके जीवन व्यापार की चिन्त. करने वाले उसके अनेक दास दासी थे, सखी सहेलियां थीं। पिता का अतुलित वात्सल्य दुलार था। वह अपनी ओर से निश्चिन्त रहती थी: वह खिलाने पर खाती, सुलाने पर सोती और जगाने पर जागती थी।

उसने आगे सोचा—केवल एक वर्ष में वह सब कुछ बदल गया। वह बलात् अपने शैशव-किशोर मधुर जीवन को उग्र यौवन में बदल कर पानी से पत्थर बनने चली है। आज विक्रम राज राजेश्वर नहीं है और न राजपुत्री को उसके सहवास में रह कर जीवन को कठोर बनाने की आवश्यकता ही है पर तो भी विक्रम जो कुछ है, उतना ही मुझ जैसी सम्राट पुत्री के लिए दुर्लभ है। मैं अपनी प्रतिज्ञा की सेवा में इसी विश्वास के साथ विक्रम को समर्पण कर रही हूँ कि विक्रम की दृष्टि में इतनी कठोर बनी रह सकूँ कि मैं उनकी मित्र हूँ। क्या जाने विक्रम कब उस उपहार से विभूषित कर दें जिसकी साधना में मुझे अखण्ड आर्जवता का व्रत ग्रहण करना पड़ा है।

इतनी देर तक चांदनी समस्त वन में फैल चुकी थी। विक्रम के गौर वर्ण पर चन्द्रदेव की रजत किरणें पड़ कर उसकी कान्ति को द्विगुणित कर रही थीं। वह सौन्दर्य का अमर देवता सा बन कर अडिग समाधिस्थ था। कुछ दूर से राजे श्री अपनी पूजा और पुजापा जैसे उसे ही समर्पित करते हुए निर्निमेष वहीं खड़ी थी।

विक्रम ने सहसा अपनी गर्दन पीछे की ओर घुमाया और राजेश्री को अपने से कुछ दूर खड़ी देख कर पूछा—क्या तुमने फलाहार कर लिया, राजे श्री ?

नहीं मैं आपकी प्रतीक्षा कर रही थी ?

पर मुझे तो भूख नहीं राजकुमारी।

तब चलिये विश्राम कीजिये।

विक्रम झरने से उठ कर चला आया। वहां पर पहले से ही व्याघ्राम्बर बिछा हुआ था। वह उसी पर लेट गया। उससे कुछ दूर मृगचर्म पर

राजे श्री भी लेट गयी। विक्रम ने देखा—राजे श्री ने कन्द का एक ग्रास भी नहीं ग्रहण किया। वह मर्माहत सा पड़ा रहा। कुछ क्षणों पश्चात विक्रम ने कठोर स्वर में पुकारा—'राजे श्री !'

क्या आज्ञा ?

तुम्हें फलाहार करना पड़ेगा।

राजेश्री उठ कर खड़ी हो गयी। उसने कमण्डल को पानी से भर कर विक्रम के सामने रख दिया और बोली—लीजिये, हाथ पाव धोइये। दो ग्रास आपको भी ग्रहण करना होगा। तत्पश्चात मैं अपना भोजन ग्रहण करूँगी।

विक्रम ने हाथ मुँह धोकर उपेक्षित सा फलाहार करना प्रारम्भ किया। राजे श्री अन्नपूर्णा सी विक्रम को परोसने लगी। वह प्रसन्न भी थी—उसने कहा—आप चिन्तित हैं ?

रहने दो।

यदि आप अनुचित न समझें तो अपनी चिन्ता का भार मुझ पर भी डालें।

ऐसा कभी न होगा।

क्यों, क्या आप मुझे इस योग्य भी नहीं समझते।

समझने की बात नहीं राजे श्री ! मेरी चिन्ताओं का भार मुझ पर ही पड़ना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो मेरी चिन्ता और बढ़ जाय।

आप विचित्र पुरुष हैं। मैं दुनिया वालों से सुन चुकी हूँ और स्वयं भी अनुभव करती हूँ कि बिना साझीदार के दुख-सुख में जीवन आनन्दमय नहीं बन सकता। एकांकी अवस्था में दुख काटे नहीं कटता और सुख बांटे नहीं बटता फिर भी आप अपने को साथ ही जीवन के समस्त व्यापारों को इतना गोपनीय बनाये हुए हैं कि आपके इस तरह रहने में मुझे क्रोध आता है।

व्यर्थ है मुझ पर क्रोध करना, राजेश्री ! मैं क्षमा का पात्र हूँ। मुझे अपनापन अपने तक ही सीमित रखना उचित ज्ञात होता है।

तो मैं बेगानी हूँ न ?

नहीं पर................

उठाया हुआ ग्रास विक्रम ने पत्तल पर छोड़ दिया और तत्क्षण कमण्डल उठा कर हाथ मुँह धोने चल पड़ा। जाते-जाते राजेश्री से बोला—मैं सोने जा रहा हूँ। भोजन के पश्चात् तुम भी विराम कर लेना—मैं ऊषा काल के पूर्व ही यहां से रवाना हो जाऊँगा। तुम भी जान लो। बहुत अच्छा !

राजे श्री चुपचाप भोजन समाप्त कर लेट गयी। उसके मन में कितने प्रश्न थे, कितने विचार कितना उथल-पुथल, किन्तु जवाब कौन दे ?

प्रभात के ब्रह्म बेला में विक्रम ने राजे श्री को ज्यों ही जगाना चाहा त्यों ही राजे श्री अपने आप बैठ गयी। विक्रम राजेश्री दोनों मौन थे पर राजे श्री ने विक्रम की भाव भङ्गिमा देख कर ताड़ लिया कि वह बड़ी शीघ्रता में है।

विक्रम चुपचाप झरने की ओर बढ़ा और राजेश्री भी स्नानादिक कार्यों से निवृत्त होने लगी। आध घण्टे पश्चात् विक्रम शौचादि कार्यों से निवृत्त हो वापस आ गया।

तब भी एकाध तारों की झिलमिलाहट अवशेष थी। चांदनी पवित्र योगी के मधुर संयम रूपी प्रकाश-सी ज्योतित थी। विक्रम बोला—राजे श्री ! देखो आज का ऊषा काल कितना रम्य और कितना सुहावना लगता है। इस शान्तिपूर्ण वातावरण में मन की एकाग्रता कितनी प्रगाढ़ है।

सचमुच ? राजेश्री ने मुसकुरा दिया। विक्रम के जीवन पथ पर मोती के दाने-दाने बिखर से गये। विक्रम ने सोल्लास कहा—राजेश्री ! तुम्हारे मधुर हास्य ने मुझे कई बार धनी बनाया है।

क्या मतलब !

यही कि जब मेरे अन्तर का साहस और शौर्य रूपी धन निराशाओं की बेजोड़ ठोकरों की पीड़ा से लुट-सा गया, तभी तुमने एक मोहक हँसी के द्वारा जीवन में बल और उन्माद भर कर मुझे सशक्त बनाया है। मुझे तुम्हारे सहवास में उसी प्रकार सुख प्राप्त हुआ है जैसे भिखारी को धन-लाभ होने पर।

बातें करते-करते विक्रम चल पड़ा। राजेश्री विक्रम के पीछे हो ली। विक्रम ने कहा—"राजेश्री ! मैं जिन मोतियों की बात करता हूँ, उन्हें मेरे पथ पर विखरने में कन्जूसी न करना।"

राजे श्री के मन ने प्रश्न किया—कंजूसी कैसी ? विक्रम के समक्ष तो आत्म-समर्पण है। वह स्वीकार करे, न करे।

कुछ समय तक राजे श्री विक्रम का अनुगमन करते हुए चलती रही पर उसे इस प्रकार मन मारे हुए चलना दूभर जान पड़ा। राजेश्री की इच्छा हुई कि उस एकान्त स्थान में विक्रम के हृदय की नग्न भावनाओं को वह अच्छी तरह जान ले। राजेश्री को रहस्य के परिधान से ढका हुआ विक्रम का हृदय भाता न था। जब जब वह समझी कि अब विक्रम की भावनाओं का उसे ज्ञान हो चुका है, तब विक्रम एक रहस्यपूर्ण व्यक्ति की रूपरेखा के साथ राजेश्री के स्मृति पटल पर अङ्कित हो जाता था। विक्रम के सम्बन्ध में उठने वाली ज्ञातव्य भावनाओं का समाधान विक्रम के साथ प्रति क्षण रह कर भी राजेश्री न कर पाती थी।

चलते-चलते सूर्य रश्मियां प्राची की कोख से निकल कर वसुधा में अपनी मुसुकान भरी बाल-क्रीड़ा दिखलाने लगी थीं। राजे श्री के पांव भर आये थे। चारों ओर वन्य भूमि नव प्रकाश पाकर इठला-सी रही थी। राजेश्री प्रभात की इस अनुपम छटा में अपनी थकावट को भूलने का प्रयत्न करना चाहती थी। किन्तु प्रत्येक क्षण विक्रम के आगे बढ़े पांवों को देखकर मन ही मन सहम जाती थी।

"उफ, कितना कठोर है यह पुरुष ! रुकना नहीं जानता, विराम नहीं कर सकता। चलता ही रहता है, जैसे किसी अगम स्रोत का अनिवार्य प्रभाव हो। बेरोक बनकर बहना जैसे स्वाभाविक गति हो।

राजेश्री अपनी भावनाओं में बहने लगी। धीरे-धीरे उसकी गति धीमी पड़ गई। विक्रम आगे बढ़ गया। राजेश्री निकटवर्ती वृक्ष की छाया में बैठकर विश्राम करने लगी। विक्रम जान भी न सका कि राजेश्री पिछड़ रही है।

चलते-चलते एक बार पीछे मुड़ कर विक्रम ने देखा पर राजेश्री को कहीं न पाकर वह उसी स्थान में रुक गया। राजेश्री कितना पीछे है, इसका अटकल विक्रम न लगा सका।

यह बात न थी कि विक्रम को थकावट का भान ही न होता था, पर वह थकावट के सम्मुख निष्क्रिय न बन सकता था। वह पथिक है, उसे अहर्निशि अपनी यात्रा चालू रखनी ही होगी। उसके विराम के लिए समय कहाँ? किन्तु राजेश्री जो उसके पीछे कदम बढ़ाती हुई उसकी मंजिल में सहायक है और साथी भी, उसे वह क्या करे? सहायक और साथी बन कर भी वह बोझ और उसके बढ़े हुए पांवों की बेड़ी है। वह अपनी इच्छानुकूल अपनी यात्रा तय नहीं कर पाता। दूसरे का बोझ! एक अवशता!! वह भी कठोर जीवन सम्पादन करते समय।

एक राजपुत्री को क्या आवश्यकता कि मार्ग पर अलक्षित भावना से चलते रहने वाले पथिक का सहगमन स्वीकार करे? तूफानी लहरों में लुढ़कती हुई किश्ती को खेने वाले नाविक पर अपनी जीवन नौका को सहारे से पार लगाने की आशा रखने वाली स्त्री की भावना कितनी विडम्बना मय?

विक्रम अस्फुट भावनाओं को एकान्त प्रलाप में बदल कर अपने आप ही कह उठा—"राजे श्री! राज भवन का ऐश्वर्यमय हास विलास त्याग कर तुमने भूल की है। तुम्हें अपनी भूलों का प्रायश्चित करना होगा। अपने आसुओं से तर दामन को अपनी आहों से सुखाना होगा।"

"विक्रम के हृदय नहीं! अपार पशुता, तीव्र-भर्त्सना, जघन्य अपमान की त्रिवेणी में वह प्रत्येक पल आपाद-मस्तक निमग्न है। उसे अपने पराये का ज्ञान नहीं। उसकी अन्तरात्मा में प्रतिशोध की भीषण बड़वाग्नि खौल रही है। उसकी जी-हजूरी में नाक रगड़ने वाले गिने चुने आमात्य आज उसकी सत्ता के प्रभु हैं।

षड्यन्त्रियों द्वारा मुट्ठी भर वणिज-व्यवसाइयों के हाथ उसकी पितृ-भूमि गहन है। कल जो सम्राट था, आज वह हत-श्री होकर प्रगाढ़ तिरस्कार और अपमान का जीवन बिता कर भी जीवित है। दासत्व की

शृंखला में विकट चीत्कार करती हुई उसकी समग्र प्रजा असहाय है। विपक्षी सत्ता की शोषक नीति उसके अर्थ-सम्पन्न साम्राज्य की आर्थिक-नीव को खोखला बना रही है। सम्पन्न एवं समृद्ध देश दाने दाने के मोहताज भिखारियों का रुदन-क्षेत्र बन रहा है। आह ! जिस बस्ती में अमरावती के स्वर्ग सुख भी हेय थे, उनमें कुत्तों की भाँति ठोकर खा कर रोटी के लिये जबड़े फाड़ना कितना स्वाभाविक हो गया।

ये प्रधान आमात्य और प्रजा परिषद के बड़े बड़े नेता क्या हैं ! एक प्रकार से मेरे प्रतिद्वन्द्वी—मेरी सत्ता के विपक्षी। माना कि वे प्रजा के कानों में सुख समृद्धि का सुरीला गान गा गा कर, राजस्ववाद के प्रति युगों से समर्पित सद्भावना को कुचलते हुए प्रजा राज्य स्थापित करने की डींग मार रहे हैं, पर क्या ये प्रजा के सामूहिक हितों के संरक्षक बन कर शक्ति का स्वपक्ष में प्रयोग नहीं कर रहे हैं ? क्या प्रजा ने स्वतन्त्र निर्वाचन पद्धति द्वारा चुन कर इन विपक्षियों एवं नेताओं को अपना प्रतिनिधि चुना है, अथवा ये बलात् शक्ति को हथिया कर ही समस्त देश में अपने मुंह मियां मिट्ठू बन रहे हैं ! साम्राज्यवाद के स्तम्भ स्वरूप सामन्त वर्ग षड्यंत्रों द्वारा साम्राज्य की सत्ता को छिन्न-भिन्न कर, क्या अपने स्वार्थों के लिए ही राजा-प्रजा के सम्बन्धों को विषाक्त नहीं बना रहे हैं ? जब साम्राज्यवाद अतीत युग का पाप भार बनकर प्रजा के निर्बल कन्धों से ढहाया जा रहा है, तब उसके पोषक सामन्तवाद एवं सामन्त वर्ग को राष्ट्र में बनाये रखना क्या नितान्त भूल न होगी ? सामन्तों की सत्ता कलेवर बदल कर विशुद्ध प्रजा के हितों के सम्पादन का जो ढोंग रच रही है, उसमें अनजान और भोली-भाली जनता को मार्ग-भ्रष्ट ही तो होना है ?

विक्रम की त्योरियाँ मानसिक भावों के उद्वेग से बदल उठीं। वह मन ही मन बोला—"कुछ भी हो, सत्ता यदि मेरे हाथों से हस्तान्तरित होकर विशुद्ध प्रजा के हाथों जा रही है, तो इसमें कोई बुराई नहीं। प्राचीन युग में इन्हीं शाश्वत सिद्धान्तों—समानता, सत्य एवं न्याय के आधार पर ही राजा को प्रजा के सामूहिक हितों का प्रतिनिधि मान कर, राजा के हाथों में प्रजा की सारी शक्ति प्रदान की जाती थी। आदर्श राजा-प्रजा की आवश्य-

कताओं का पूरक था। सच तो यह है कि वह स्वामी पद पर प्रतिष्ठित होकर भी प्रजा का सेवक ही था। युग धर्म के परिवर्तन को स्वीकार करते हुए, प्रजा द्वारा प्राप्त समस्त अधिकारों को पुनः प्रजा के हाथों में समर्पित कर देना महान कल्याणकारी कर्तव्य होगा किन्तु सामन्तों एवं कर्तव्य बोझ को न उठाने वाले अनधिकारी प्रतिनिधियों के हाथों में कभी सत्ता न जाने दूँगा, चाहे मुझे महान् सर्वनाश को ही क्यों न स्वीकार करना पड़े। विपक्षियों ने प्रचार द्वारा जो विषाक्त वातावरण उत्पन्न किया है उसके समक्ष अपने पद के शाश्वत अधिकारों को प्रजा के हाथों में समर्पित कर कर्तव्य के बोझ से मुक्त हो जाऊँगा। प्रजा को भी मेरे इस कृत्य से सचाई परखने में सहायता मिलेगी। जनता की दृष्टि में वास्तविकता को ला देना ही सामन्तों के नाश का कारण होगा। मैं कुछ भी उठा न रक्खूँगा। जो लोग शोषक होते हुए भी प्रजा की दृष्टि में आदरणीय बने हैं, उन्हें नग्न सत्य के सम्मुख अवश्य ही अपना स्वरूप प्रकट करना पड़ेगा। प्रजा समझेगी कि सही अर्थ में उनका प्रतिनिधि कौन ?

सहसा मुसकुराते हुए राजेश्री विक्रम के सम्मुख आकर खड़ी हो गयी।

"चलिए" राजेश्री ने कहा।

"चलो, राजेश्री! जीवन के थोड़े से दिन मेरे साथ व्यतीत करो। सम्भव है; कभी कठोर जीवन की तपस्या का शुभ फल चखने को मिल सके, या, सम्भव है, कभी न मिले किन्तु दूसरी बात यह भी है राजेश्री! कि शायद तुमने मेरे साथ मिल कर जीवन की सही परिभाषा को समझने से अस्वीकार कर दिया है और शायद जीवन की परिभाषा समझती हुई भी तुम उस ओर झुक रही हो, जहाँ निराशा और अवसाद है।

क्यों ? आप मेरे लिए इतना चिन्तित क्यों हुआ करते हैं ? जीवन के सभी दिन एक से नहीं व्यतीत हो सकते। धूप-छांह की भाँति सुख-दुख आते हैं, और अदृश्य में विलीन हो जाते हैं। मैं तो सोचती हूँ कि निश्चय ही आपके पराक्रम द्वारा ये दिन व्यतीत होकर सुख लावेंगे और तब मैं आपके साथ रहकर सुखपूर्वक दिन व्यतीत कर सकूंगी।

राजेश्री के प्रत्युत्तर को सुनकर सूखी हँसी में हँसते हुए विक्रम बोला-— भूल मत करो, राजेश्री ! मैं जिस अराजकता को अहिंसा के बल पर उकसा रहा हूँ, वह खूनी चादर ओढ़ कर किसी न किसी दिन सम्राट की शक्ति के साथ लोहा लेगी। यदि मैं विजयी हुआ तो राजतंत्र के स्थान पर प्रजा-तंत्र शासन प्रणाली स्थापित करूँगा किन्तु राजेश्री ! मैं कभी भी राजैश्वर्य से युक्त होकर भोगों की गोद में जीवन न व्यतीत कर सकूंगा।

राजेश्री ने कुछ अन्य मनस्क भाव से कहा—अभी से आप भविष्य के सम्बन्ध में क्यों कठोर बन रहे हैं ?

इसलिये राजेश्री ! कि मुझे जो कुछ सुख भोगना था, वह अपनी सत्ता के दिनों में भोग चुका। एक प्रकार आज का जीवन संघर्षमय एवं प्रति-द्वन्द्वी है। इसलिए कठोर बनकर वर्तमान और भावी जीवन को सैनिक की भाँति व्यतीत करूँगा।

तो क्या आप राजतंत्रवाद को लोकतंत्री शासन से निम्न श्रेणी का समझते हैं।

मै वादों के झगड़े में पड़कर आदर्श शासन प्रणाली को स्वीकार करता हूँ। ऐसा शासन जिससे प्रजा की भुखमरी और गरीबी दूर होती है, जो सम्पन्नता के साथ-साथ प्रजा के स्वास्थ्य, शिक्षा-दीक्षा एवं भौतिक उन्न-तियों को प्रोत्साहन देता हो, जो प्रजा को संस्कृति एवं आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर बिठलाने वाला हो, वह चाहे एकतंत्रवाद हो या प्रजातंत्रवाद, मुझे पसन्द है, किन्तु मैं जानता हूँ कि आज की शोषित किन्तु जागरूक जनता प्रजातंत्रवाद को ही पसन्द करती है।

तो फिर आप खोयी हुई राज-सत्ता को प्राप्त करने में प्रयत्नशील क्यों हैं ?

क्योंकि मेरे घर के अन्दर डाकुओं ने डेरा डाला है। मैं उन्हें समूल नष्ट किये बिना शान्ति और सन्तोष की श्वास नहीं ले सकता। यह एक क्षत्री का प्रण है, अटल है।

राजे श्री ने आँख गड़ा कर विक्रम को देखा कि विक्रम का ओजस्वी स्वरूप प्रतिशोध की उन्मत्त भावना से दग्ध हो कर उग्र दीख पड़ रहा

था। राजे श्री की क्रान्ति विषयक भावनाओं को सुदृढ़ बनाने में विक्रम की उग्रता कलाकार का काम कर रही थी। इधर राजे श्री भी भली भाँति समझ रही थी कि जिस दिन विक्रम एक दृढ़ संगठन का सेना-नायक बन कर, सामन्तों और उमरावों की सत्ता को ललकारेगा, उसी दिन रक्त वैतरिणी से सारा साम्राज्य परिप्लावित हो उठेगा। विनाश के विघटन में लाखों नर नारियों की एकान्त हत्या से दिशा-विदिशाएं बिलख उठेंगी। दीन मजदूर किसान एवं सर्व साधारण जनता के क्रन्दन-मय हाहाकार से बड़े २ इन्द्रासन डोल उठेंगे। तब क्या होगा ? सर्वनाश !—'महाराज' बिलख कर राजे श्री ने कहा—'क्या भावी रक्त-पात रोका नहीं जा सकता ? सोचिए, मैंने आपकी सेवा का व्रत इसी लिए ग्रहण किया है कि भावी रक्तपात को रोक कर, मैं अपने पिता एवं साम्राज्य दोनों की सेवा कर सकूँ।"

"राजे श्री ! तुम मेरे साथ चाहे जिस महान उद्देश्य को लेकर रह रही होओ, किन्तु मेरी धारणा बदल नहीं सकती। तुम आज अपने पिता एवं उनके हिमायती सैकड़ों उमरावों एवं पूँजीपतियों की रक्षा का व्रत लेकर यदि मेरे पास आयी हो, तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि तुम्हें निराश होना पड़ेगा। मेरे दृष्टिकोण में प्रजा के अधिकारों का मूल्य सबसे बड़ा है, और सामन्तों, उमरावों एवं पूँजीपतियों के हितों का समर्थन नगण्य। राजे श्री ! जिस प्रजा-राज्य स्थापित करने की दुहाई देकर सामन्त वर्ग ने अधिकार अपने हाथ में ले रक्खा है, वह प्रजा-राज्य तभी संभव है जब अमीरों उमरावों एवं सामन्तों के हितों को कुचल दिया जाय। शोषक और शोषितों के बीच समानता एवं न्याय सम्भव नहीं है।

"एक बात और है, राजे श्री ! यदि तुम्हें अपने पिता के प्रति घृणा न उत्पन्न होती हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पिता देश-द्रोही, विश्वासघाती एवं विदेशी सत्ता के गुलाम तथा आश्रित हैं। अस्तु मैं उन्हें क्षमा नहीं कर सकता। हो सके तो तुम उन्हें सूचना दे सकती हो कि वे उस क्षण के लिए तैयार रहें, जब मैं उनके गुट्ट

पर एक साथ भयानक प्रहार करूँगा और जब वे अपनी नीचता के प्रति हार्दिक पश्चात्ताप भी न प्रकट कर सकेंगे।"

विक्रम होंठ चबा कर रह गया। इतने दिनों तक जिस गोपनीय रहस्य को अनेक विचारों के परिधान में छिपाये घूमता था, वह आज एकाएक प्रकट हो गया।

राजे श्री विक्रम के साथ चलते २ अचानक विक्रम का दामन पकड़ कर खड़ी हो गयी और विक्रम को सम्बोधन करते हुए बोली—महाराज! आप सोचते होंगे कि मैं अपने पिता का पक्ष ग्रहण करती हूँ। आप, सम्भवतः, मुझ पर यह भी आरोप करते होंगे कि मैं भेद-नीति का सहारा लेकर पिता को कुछ सहायता कर सकूँगी किन्तु आपने, शायद, इस पर कभी विश्वास न किया होगा कि न तो मैं पिता का पक्ष ग्रहण कर रही हूँ, और न आपका। मैं तो न्याय का पक्ष ग्रहण करती हूँ। यदि आप न्यायपूर्ण हैं, तो आपकी समर्थक हूँ। यदि मेरे पिता ही न्यायी हैं, तो मैं उनकी ओर हूँ, किन्तु निश्चय ही हिन्सात्मक प्रवृतियों के साथ मैं किसी का पक्ष ग्रहण नहीं कर सकती।

भोली राजे श्री! इस युद्ध में हिन्सा अहिन्सा का प्रश्न मेरे लिए गौण है। न्याय और बहुमत के हित का न्याय मुझे सर्वथा मान्य है। मैं भी नहीं चाहता कि बहुमत के लिए न्याय प्राप्त करने में हिन्सा का प्रयोग किया जाय, किन्तु यदि प्रजा को सत्ता हस्तान्तरित करने में अन्य मार्ग न मिला तो मैं बे हिचक एक की त्रिवेणी में स्नान करूँगा।

तो आप इस कार्य को प्रजा पर ही निर्भर रहने दीजिए। आपकी प्रजा स्वयं अपना मार्ग निर्धारित करेगी। आप अग्रणी बन कर स्वयं शत्रुता को अपने ऊपर ओढ़ रहे हैं।

यह कैसे संभव है, राजे श्री! युगों से मेरे पूर्व पुरुषों ने प्रजा की दी हुई राज-पद की गुरुता को अपने बाहु-बल एवं चिरत्याग से अर्जन कर के सञ्चित रखा है। समग्र प्रजा का विश्वास साम्राज्य की अखन्ड एकता के साथ जुटा हुआ है घरेलू फूट ने बाह्य सत्ता को आमंत्रित कर समग्र प्रजा की धरोहर उनके हाथों

सौंप दी है। मैं जानता हूँ, मेरी प्रजा मुझ पर विश्वास करती है। मेरे लिए प्रत्येक क्षण उद्विग्न है। आज युगों की परम्परा छिन्न-भिन्न होने जा रही है। मुझे अपने राजपद की परवाह नहीं, किन्तु मैं अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक सचेष्ट रहूँगा कि प्रजा की धरोहर प्रजा की जानकारी में प्रजा को ही प्रदानित की जाय।"

"दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि यदि राजस्व की सुदृढ़ प्राचीरें प्रजातंत्र की स्वतंत्र घोषणा से हिल रही हैं तो सहारा देने वाले सामन्तवाद के खंभों का खड़े रखना अन्याय होगा। जब राजस्ववाद की सम्पूर्ण व्यवस्था बदलने जा रही है, तब सामन्तों और उमरावों का आज के युग धर्म से क्या सरोकार? उन्हें भी मिटा देना लाजिमी है बाह्य सत्ता को इन्हीं देश-द्रोहियों से बल मिलता है। इन्हीं अल्पसंख्यक अमीर उमरावों के पापों का कोढ़ प्रजा के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन की समस्याओं को घिनौना बना रहे हैं। राजेश्री! तुम न्याय की समर्थक हो। चलो, तुम्हारे नेतृत्व को मैं स्वीकार करता हूँ। तुम अहिंसा की पुजारिणी बनकर प्रजा के अधिकारों को उसके हाथ सौंपने में मेरी मदद करो।

राजेश्री विक्रम को अविचलित देख कर सहम गयी। अभ्यर्थना करते हुए राजेश्री ने कहा—महाराज! मैं क्षुद्र नारी हूँ। नेतृत्व का गहन एवं पवित्र कार्य मैं कैसे सम्हाल सकती हूँ किन्तु मेरा अन्तिम प्रयत्न आपकी इच्छा के अनुकूल ही होगा। मैं माता-पिता एवं राज-पाट की सारी भोग भावनाओं को ठुकरा कर महाराज के सम्मुख प्रतिज्ञाबद्ध हूँ कि जैसे हो सकेगा, महाराज की आज्ञा पर ही जीवन व्यतीत करूँगी।

विक्रम ने मुसकुरा दिया। वह राजेश्री को, जो उसके शत्रु की एकमात्र उत्तराधिकारिणी कन्या थी, अपने साथ लेकर उस एकान्त में बढ़ा जा रहा था, जहाँ लक्ष २ मानव उसका अमर सन्देश सुनने के लिए चिर प्रतीक्षा के पश्चात् उद्विग्न हो रहे थे।

राजेश्री विक्रम से बातें करती जाती थी किन्तु एक सफल गोता-खोर की भाँति विक्रम के हृदयान्तराल में घुसकर उन अमूल्य निधियों को

जगत के प्रकाश में फेंक रही थी जिनकी ज्योतिर्मय आभा से अनुगमन पथ सरल और सीधा बनने वाला था।

चलते-चलते राजेश्री ने पूछा—महाराज! यदि हम लोग विजयी हुए तो महान् कर्तृत्व का बोझ लेकर आत्म-कल्याण-पथ पर कैसे आरूढ़ हो सकेंगे?

इसकी चिन्ता मत करो, राजेश्री! मैं मंसूबों की दुनिया बनाना पसन्द नहीं करता। भूत-भविष्य से मेरा कोई सरोकार नहीं। मेरे जीवन के सारे व्यापार वर्तमान पर ही टिके हुए हैं। आज मुझे जो कुछ करना है, वही कर रहा हूँ। अन्तस्तल में निर्विशेष-सा बैठा हुआ कोई प्रेरणा कर रहा है, और मैं उसी आदेश पर जीवन कर्मों की सृष्टि कर रहा हूँ।

महाराज!—कुछ आश्चर्यचकित-सी बनकर राजेश्री बोली—आपके कर्म बड़े तीखे और कठोर हैं। आप कर्म-फल से विरक्त हैं। आपको निर्मम की भाँति देखकर न जाने क्यों पीड़ा होती है।"

पीड़ा का कोई कारण नहीं, राजे श्री! तुम समझती हो कि विजय-लिप्सा से हमें आसक्ति रखनी चाहिए पर यह निश्चित कब है कि विजय श्री हमें ही सम्वरण करेगी। जो बात भविष्य के गर्भ में छिपी है, वह रहस्यमय है। उसकी सुनहली आशा पर जीवन के साथ छल करना अनुचित है।

विक्रम ने कुछ तेजी से पांव बढ़ाना आरम्भ किया। राजेश्री विचारों के कलेवर के साथ माया की तरह लिपटी हुई विक्रम के पीछे पीछे चलने लगी। दिन चढ़ आया, दोपहर की बेला हुई, सन्ध्या भी समाप्त। एक दिन, दो दिन और कई दिन व्यतीत हो चुके, विक्रम की यात्रा असमाप्त रही।

एक दिन राजे श्री घबड़ा कर बोली—महाराज! अभी हम लोगों को और कितना चलना बाकी है?

पहुँचे हुए समझो।

आप इस निविड़ एकान्त में इतनी दूर बैठ कर क्यों रहना चाहते हैं? इस प्रकार एकान्त-सेवी बनने से, सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों के बीच दूरी रखना अनिवार्य-सा बन जायगा।

विक्रम हँस पड़ा और बोला—राजकुमारी ! अधीर न होओ सारी गुत्थियाँ धीरे-धीरे सुलझ जायँगी ।

इसी प्रकार आपस में बातें करते-करते दोनों जब आगे बढ़ रहे थे, एकाएक घोड़ों के टाप की ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। विक्रम और राजश्री उसी ध्वनि की प्रतीक्षा करते हुए चलने लगे।

कुछ ही समय पश्चात् एक अश्वारोही सैनिक उन दोनों के सामने आकर खड़ा हो गया। वह झटपट अपने घोड़े से उतर कर अभ्यर्थना करते हुए बोला—महाराज, मैं आपकी ही सेवा में जा रहा था।"

सहज भाव से विक्रम ने पूछा—कोई कार्य विशेष है क्या ?

महाराज ! मैं एकान्त में निवेदन करूँगा।

विक्रम राजश्री से विलग हट कर एक वृक्ष के नीचे जा बैठा। अश्वा-रोही ने संकेत करते हुए पूछा—यह श्रेष्ठ स्त्री एक राज-महिषी की भाँति विचरण करती हुई कौन हैं ?

इनका नाम है, राजश्री ! यह सम्राट प्रसेनजीत की कन्या हैं।

क्षण भर के लिए आगन्तुक अवाक-सा रह गया। विक्रम उसकी भावना को पहिचानते हुए बोले—अरण्यक ! तुम सहम क्यों गये ?

उसने बुदबुद शब्दों में प्रत्युत्तर दिया—महाराज ! बात ही सहम जाने वाली है। यह शत्रु सम्राट की पुत्री हैं। मैंने सुना है, प्रसेनजीत को पता है कि हम लोग निर्वासित अवस्था में रहकर उनकी सत्ता को छीनने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रसेनजीत चतुर और कुटिल है। यदि उनकी पुत्री ने विष-कन्याओं की भाँति आचरण किया तो सम्पूर्ण आशाओं पर तुषारा-पात हो जायगा, महाराज !............

बात पूरी न होने पायी थी कि विक्रम बोल उठे—

अरण्यक ! तुम्हारे हृदय की बात मैं समझ गया। तुम ठीक-ठीक जान लो कि सम्राट प्रसेनजीत की कन्या स्वतंत्र प्रजातंत्र शासन की समर्थक हैं। वह सम्राट उपाधिधारी व्यक्ति को स्वतंत्र शासन के अन्तर्गत मिटा देने को तत्पर हैं। इसी कारण उन्होंने साम्राज्यवादी पिता का त्याग कर दिया है। वह अपने पिता के हाथों से सत्ता छीन कर प्रजा के हाथों

सौंपना चाहती है। यद्यपि वह अपने पिता की सम्पत्ति और साम्राज्य की एक मात्र उत्तराधिकारिणी है किन्तु अनेक प्रजातंत्र संघों की वह जन्मदाता भी हैं। एक बार वह समस्त साम्राज्य-विरोधी लोकनायकों की गुप्त समिति में प्रतिज्ञा कर चुकी हैं कि वह पिता की साम्राज्य-लिप्सा की समर्थक नहीं हैं। वह साम्राज्य के उत्तराधिकार को ठुकरा कर प्रजा-तंत्र के स्वतंत्र सदस्या के रूप में कार्य कर रही हैं। अनेक विश्वस्त नायकों के सत्परामर्श के पश्चात्, मैंने इन्हें अपने सहवास में लिया है। अरण्यक! चिन्ता मत करो। तुम उल्टे पावों लौट जाओ और शिविर में पहुँच कर मेरे अंगरक्षक द्युमत्सेन से कहना कि वह महान् राजेश्री के शुभागमन के समय हृदय खोलकर उनका आतिथ्य सत्कार करें। कुछ भी हो, वह एक सम्राट शत्रु की पुत्री होकर भी हमारे निवास स्थान की आदरणीया अतिथि हैं।

अरण्यक बीच में ही बोल उठा—महाराज! राजधानी में बड़ी हल-चल है कि सम्राट ने स्वयं अपनी पुत्री को शत्रु के भेद लेने के लिए भेजा है। यह सब सम्राट प्रसेनजीत की ही चाल है।

बिल्कुल झूठ है, अरण्यक! राजेश्री अपने पिता की इच्छापूर्ति के लिए नहीं, बल्कि, स्वेच्छा से हमारी ओर हैं क्योंकि न्याय-पक्ष पर वह सबसे बड़ा बलिदान करने के लिए तत्पर हैं। शत्रु-पक्ष द्वारा जो अफ़वाह फैलायी गयी है, वह केवल राजेश्री को तिरस्कृत करने की एक चाल है। प्रसेनजीत को भय है कि कहीं शत्रु-पक्ष राजेश्री को अपनी ओर मिला कर उनकी गुटबन्दी एवं रहस्यपूर्ण विश्वासघात की सारी चेष्टाओं के मर्म का उद्घाटन करा कर प्रजा को उभाड़ न दें। वे वैभव एवं विलास के पुतले बन कर सम्राट की उपाधि से विभूषित रहना चाहते हैं किन्तु राजेश्री उनके स्वप्नों को भङ्ग कर देगी।

अरण्यक विक्रम की बात सुनकर बोल उठा—भगवान करें, महाराज की वाणी सत्य हो।

मुसकुरा कर विक्रम ने कहा—अरण्यक! विश्वास रक्खो, राजेश्री हमें हानि न पहुँचा सकेंगी।

विनय प्रदर्शन करते हुए अरण्यक बोला—हम सब तो महाराज की ही शरण हैं और हमें महाराज ही का विश्वास है।

अश्वारोही विक्रम को अभिवादन करता हुआ उठ खड़ा हुआ और बोला—महाराज आज्ञा हो!

विक्रम ने गम्भीर मुद्रा से कहा—अरण्यक! द्युमत्सेन से कह देना कि हम लोग परसों तक शिविर में पहुँच जायँगे। राजेश्री मेरे साथ होंगी।

जो आज्ञा—कह कर जैसे ही अरण्यक जाने लगा, विक्रम बोला—और सुनो अरण्यक! मैं चाहता हूँ कि राजकुमारी राजेश्री के पहुँचने पर प्रत्येक मित्र सदभिलाषा पूर्ण व्यवहार करें। राजकुमारी के हृदय में किञ्चित मात्र यह भावना न घर कर सके कि वे एक अविश्वासी समाज में जा कर बैठी हैं। एक शब्द में यह कि राजकुमारी का निष्कपट हृदय से स्वागत किया जाय। राजेश्री का सम्मान मेरे सम्मान से भी ऊँचा है। वह इसलिए नहीं कि वे आज के सम्राट की पुत्री हैं, वरन् इसलिए कि वह एक प्रजातन्त्र स्वाराज्य की प्रबल समर्थक हैं। उनमें वीर-बाला के अपरिमित गुण हैं। उनमें वीर क्षत्राणी जैसा ओज है और उनके हृदय के प्रत्येक कोने में सर्वस्व त्याग की भावना ओत-प्रोत है, बस, इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना।

अरण्यक एक वीर की भाँति अपने स्वामी की अभ्यर्थना करते हुए चल पड़ा। राजकुमारी कुछ दूर निस्चर भाव से खड़ी अपने मन से विचार कर रही थी—विक्रम! तुम्हारे आकर्षण में कितना प्रबल निमंत्रण है कि मैं शत्रु कन्या होकर भी तुमसे कुछ पाने की लालसा में गृह-विहीन बन कर भटक रही हूँ। महाराज! तुम सम्राट पद से च्युत होकर भी अच्युत हो। तुम्हारी महानता ही तुम्हारी सत्ता स्वीकार करने को विवश करती है।

सहसा अरण्यक राजेश्री के सामने आकर नत-मस्तक हो गया। वह अपना हार्दिक आदर प्रदर्शन करते हुए बोला—"महान् राजेश्री! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।"

राजेश्री की ध्यान-मुद्रा भङ्ग हो गयी। वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। चारों ओर पुष्प-से बिखर गये। सारा वातावरण मृदुल हास्य की सङ्गीत से मुखरित हो उठा। राजेश्री हास्य स्फुरित दृगों को चञ्चलता से नचाती हुई बोली—वीर बन्धु! तुम्हारा स्वागत है। ज्ञात होता है, तुम अभी आये और जा भी रहे हो।

अरण्यक ठगा-सा खड़ा रह गया और तब बोला—वीर बाले! आपके दर्शन का संयोग मुझे पुनः प्राप्त होगा और मैं अपनी सेवाएँ समर्पित कर कृतकृत्य होऊँगा।

राजेश्री स्मित हास्य से पुनः मुस्कुरा पड़ी। विक्रम राजकुमारी के बराबरी तक आ चुके थे। वह बोले—राजकुमारी! दो दिन में हमलोगों की यात्राएँ समाप्त हो जायँगी और हम एक निश्चित निवास स्थान पर पहुँच जायँगे।

बड़ी प्रसन्नता है, महाराज!

विक्रम ने जोर देकर पूछा—राजेश्री! इस बात को जान कर तुम्हें भी प्रसन्नता है?

अवश्य महाराज! अपनी मंजिल तय करने के पश्चात् किसे सुख नहीं होता।

विक्रम ने देखा राजकुमारी प्रसन्न-मुख है। राजकुमारी को आह्लादित देखकर विक्रम भी हास्य-युक्त वचनों में बोला—राजेश्री! मेरे साथ रहने में तुम्हारी प्रसन्नता क्यों खो जाती है?

राजेश्री चुपचाप मुस्कुराती रही।

विक्रम ने पुनः कटाक्ष किया—राजकुमारी! अपने स्वजन सम्बन्धियों को छोड़कर तुमने कितनी भयानक भूल की है? क्या तुम्हारा हृदय अपनी भूलों के लिए पछता नहीं रहा है? मैं तो अनुभव करता हूँ कि पराजित का जीवन हास्यास्पद एवं वेदनामय है। भला, नारी होकर तुम्हें क्या पड़ी है कि ऐसे कठोर जीवन का सम्पादन करो और विशेष कर इस अवस्था में जब कि तुम एक साम्राज्य की एकमात्र उत्तराधिकारिणी भी हो।

राजेश्री हँसती हुई बोली—महाराज ! जब मैं भाग्यवशात साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी हूँ, तब मुझे भोगों के हेतु मूल्यवान् जीवन का बलिदान पसन्द नहीं। मैं साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु की खोज में हूँ। क्या मेरा संसार समस्त विचित्रताओं से खाली होगा ? क्या मुझे अपनी पूजा करवानी होगी या महान् की उपासना में पुजारिणी बनना होगा ? क्या मुझे श्रेष्ठता के परिधान से अपने आपको ढक कर प्रकट करना पड़ेगा या अपने अस्तित्व की लिप्सा को कुचल देना पड़ेगा ?

महाराज ! मैं नहीं जानती। आज मेरे जीवन की बहिर्मुखी दृष्टि में चारों ओर मादकता है और मैं उन्मादिनी हूँ। पहाड़-जंगल या हरे-भरे मैदान सभी सुहावने हैं। मुझमें बल है। मै भोगों से निरपेक्ष रह कर भी सुखी हूँ। मैंने आपके साथ होकर कोई भूल नहीं की है। आप स्वप्न में भी न सोचें कि आपके साथ रह कर मेरी प्रसन्नता खो जाती है। मैं यदि बार-बार खिलखिला कर हँस नहीं पड़ती तो इसका अर्थ यह नहीं कि मैं दुखी हूँ वरन् यह कि आपके साथ समानता का व्यवहार करते समय मैं अपने आपको तुच्छ-सी पाती हूँ।

विक्रम तनिक और भावोन्माद को बढ़ाते हुए बोले—अवश्य ही तुम्हारी गुरुता तुम्हें अपने से छोटों के साथ समान व्यवहार करने पर कुचलती होगी।

"नहीं, नहीं" राजेश्री ने बढ़ कर विक्रम का हाथ पकड़ लिया और बोली—"आप प्रत्येक क्षण मुझे अपनी ओर से उदासीन बनाने की चेष्टा में रहते हैं; किन्तु मैं अनेक बार दुतकारने पर भी आप का सहवास न छोड़ सकूँगी। मैंने एक बार और सदा के लिए यह प्रण कर लिया है कि आपकी सहज भावनाओं में मैं भी बहूँ और उनके द्वारा जीवन के अनेक द्वन्द्वात्मक युद्धों को विजयिनी बन कर जीतने में समर्थ हो सकूँ।"

किन्तु राजकुमारी ! तुम्हारे योग के दिन अभी नहीं आये हैं। यदि प्रभात कालीन सूर्य की बिखरी हुई अरुणिमा पर काले-काले बादल अपना शासन जमाते हैं, तो निश्चय ही अनुराग रञ्जित पूर्ण सन्ध्या को शृङ्गार

विहीन होना पड़ेगा। इसलिए सुख के समय अनचाहे विषाद को अङ्गीकार करना बुद्धिमता नहीं।

राजकुमारी बोली—बस, महाराज! इस प्रसङ्ग पर आप अपने विचारों को अधिक उन्मुक्त न रक्खें, तो मुझ पर विशेष दया हो। मैं अपनेपन पर कोई विचार नहीं करती। मैं आपाद-मस्तक सुख-मग्न हूँ। प्रत्येक क्षण सुख के साथ हूँ।

विक्रम ने राजेश्री पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डाली। राजेश्री लज्जा विस्मित दृष्टि से भूमि देखने लगी।

विक्रम बोले—मेरी ओर देखो, राजेश्री! मैं तुम्हारे प्रसन्न मुख की अरुणिमा में एक सन्देश पाता हूँ। क्या वह सच है?

सच, झूठ मैं नहीं जानती, महाराज! आप नेत्रों की राह अन्तर में पैठकर एक रंगीन चित्र बनाने लगते हैं। इस कुशलता के कारण मैं बहुत ठगी जाती हूँ।

राजकुमारी दृष्टि फैला कर उस प्रशान्त निर्जनता में कुछ खोजने-सी लगी।

विक्रम आत्म-विस्मृत-सा अन्तर में मुखरित होती हुई रागिनी की मोहक राग पर बेहोश होने लगा।

"महाराज" तीक्ष्ण विस्फारित दृगों में कामरता भर कर राजेश्री बोली—"आज का जीवन तितली जैसा चञ्चल गति से नृत्य करने का है। मैं मदमाती-सी अपने चारों ओर हरीतिमा की एक मोहक सृष्टि देख रही हूँ। जीवन में बसन्त जैसा छाया हुआ है। शीतल, मन्द, सुगन्ध युक्त वायु विष-बुझे तीरों की छेदन-शक्ति लेकर रोम-रोम में प्रवेश कर रही है। महाराज! उन्मुक्त लताओं का मधुर स्पर्श शरीर में विद्युत तरङ्गों जैसी चपलता भर रहा है। अन्तरिक्ष में चारों ओर निर्जन वन ही वन है। एकान्त में हम दोनों किसी मधुर भावमय सङ्गीत की भाँति विचरण कर रहे हैं। मैं जानती हूँ, स्वप्न जैसी छिप जाने वाली रमणीयता का हृदय-स्पर्श केवल क्षणिक है, मदीला है। जागरण के प्रत्येक क्षण एक मधुर-राग-मयी-स्मृति बनकर बीते जा रहे हैं। इस नीरवता के

अभेद्य प्राचीर से चिल्ला कर कोई कहता है—स्वप्न पर मत भूलो—वायु के साथ न बहो। जीवन नश्वर है। सुख के एक बूँद को भी जीवन से बाहर न छलकने दो।"

विक्रम आम्र कुञ्जों के नीचे से चलता हुआ राजेश्री से बोला—राजकुमारी! तुम भावी आशाओं पर थिरक कर व्यर्थ ही जीवन को वेदनामय बनाया करती हो। जीवन के ये मधुर राग और इनमें भरी हुई अपूर्ण तृष्णा दोनों सिहरन पैदा करने वाली हैं। तुम यदि इनकी छलना में अपने आप को न खो सको तो—

यह असंभव है, महाराज! रंग-बिरंगी आशाओं के आवर्त में मैं घिरी हुई हूँ। जाने कब सपने सच हों, न हों। मैं मायामयी हूँ। निर्गुण व्यापारों में मेरी रुचि नहीं है।

तुम क्या चाहती हो, राजेश्री?—विक्रम ठिठक कर खड़ा हो गया।

क्षण भर राजेश्री अवाक् रही। विक्रम बोला—राजकुमारी! यदि सम्राट प्रसेनजीत के साथ युद्ध करता हुआ मैं मारा गया, तब तुम्हारी इच्छाओं का समाधान कैसे होगा?

तब, मैं चिता की लकड़ियों में आग लगा कर अपनी मधुर अभिलाषाओं की समाधि बनाऊँगी, महाराज! मैं जानती हूँ, मेरे पिता के साथ किया गया युद्ध महान भयानक होगा। राजतंत्र की राख से प्रजातंत्र का जन्म अवश्य होगा; किन्तु सामरिक विजय का महत्व सर्वनाशी होगा।

किन्तु यदि आप मुझे......................

राजेश्री। अपनी बात समाप्त करो! तुम्हारे मौन आमंत्रण अनेक गुत्थियों की सृष्टि करते हैं। जो कुछ कहना हो, स्पष्ट कहो।

राजेश्री के मुख पर बिजली चमक उठी। लज्जा की लालिमा से सम्पूर्ण शरीर अनुरञ्जित हो उठा। हृदय—वीणा से सङ्गीत मुखरित करती हुई वाणी झङ्कृत हो उठी। राजकुमारी ने काँपते स्वर में कहा—

यदि आप मुझे स्वीकार करते....।

राजकुमारी भूमि कुरेदने लगी। कृतज्ञता भरी प्रेम-दृष्टि से विक्रम

बोला—राजकुमारी ! क्या तुम सच कह रही हो ? या, किसी मधुर स्वप्न का उन्माद बिखेरती हो ? राजकुमारी ! तुम्हे पता है न, कि, मैं तुम्हारे पिता का शोषण और छल भरा साम्राज्य फलते-फूलते नहीं देख सकता। उसने मेरी पीठ पर पराजय का ठप्पा लगा कर समानता और न्याय के साम्राज्य पर ठोकर मारा है। ठोकर का बदला ठोकर है। मैं इस बात को नहीं भूल सकता। राजकुमारी ! जिसने बाह्य सत्ता की सहायता ले कर साम्राज्य को घने भिखारियों की जमात बना दी, उसे क्षमा करना शैतान की सत्ता स्वीकार करना है। उसके समक्ष नगण्य व्यक्तियों का अल्प मत सम्पूर्ण शासन का अधिकारी है। वह कहता है—सम्राट् और सामन्तों की शक्तियाँ संयुक्त बल से साम्राज्य को अपने शासन की चक्की में पीसेंगी; किन्तु बहुमत वाले सर्व-साधारण की श्रेष्ठता को वह स्वीकार नहीं करता। सम्राट की धारणा है कि अल्पमत के श्रेष्ठ घराने वाले व्यक्ति सर्वसाधारण की बौद्धिक योग्यता से परे हैं। इसलिए शासन की अनेक गुत्थियाँ सामन्तों का दल ही सुलझा सकता है किन्तु इस थोथी दलील पर मैं कतई विश्वास नहीं करता। इसीलिए, राजकुमारी ! मैं तुम्हारी ओर से उदासीन हूँ। मैं जानता हूँ, ज्योंही मैंने जीवन-सङ्गिनी के रूप में तुम्हें स्वीकार किया, त्योंही रण-नदी की लथपथ धारा में सारा साम्राज्य बहने लगेगा। सम्राट प्रसेनजीत की सार्वभौमिक सत्ता चण्डी बन कर रक्तपान करेगी, इसलिए जो दले मसले हैं वह और भी नाश हो जायँगे। विनाश के नर्तन में रुदन और विकट चीत्कार के सिवा कुछ भी हाथ न लगेगा। संत्रस्त प्राणी अरक्षित रह कर कैसे अस्तित्व रख सकेंगे।

राजेश्री बोली—तो क्या आप मेरे पिता से हिन्सक युद्ध न करेंगे !

यह आज ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, राजेश्री ! हाँ, इसका निर्णय शीघ्र ही होने वाला है। मैंने निरन्तर जनता का सङ्गठन करते हुए इस प्रश्न पर बारम्बार विचार किया है और इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अनिवार्य सङ्घर्ष के समय केवल विजय पर ही अपना ध्यान रखना पड़ेगा। संभवतः विजय के लिए हिन्सा को भी स्वीकार करना पड़े।

राजकुमारी अविचलित मुद्रा से बोली—किन्तु मैं आप का हाथ रक्त

रञ्जित न होने दूँगी। चाहे मुझे अपना बलिदान ही क्यों न करना पड़े। पिता की अहम्मन्यता एवं हिन्सक वृत्ति का तिरस्कार कर मैं आप के साथ पग-पग भूमि पर भटक रही हूँ इसका यह अर्थ नहीं कि अहम्मन्यता एवं हिंस्सा के आश्रय में आप भी विनाश का खेल रचें। हाँ, जिन बाह्य शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके मेरे पिता ने साम्राज्य स्थापित किया है उन्हें विशृङ्खलित करने में आप का पूर्ण सहायक हूँ किन्तु पिता के मिटाने की षड्यंत्र-पूर्ण हिन्सा का समर्थन मैं नहीं कर सकती।

विक्रम राजेश्री की अटल प्रतिज्ञा सुनकर तनिक भी विचलित नहीं हुआ। वह बल देकर बोला—हमारे तुम्हारे बीच यही तो काँटा है, राजकुमारी! किंतु मुझे परवाह नहीं। यदि सम्राट प्रसेनजीत को मिटाने में अनेक राजेश्री की रक्त धारा में स्नान करना पड़ा, तो भी मैं न हिचकूँगा।

राजेश्री विक्रम के मुँह से ऐसी भयानक बात सुनकर काँप उठी किंतु विक्रम निर्निमेष राजेश्री को देखता हुआ बोला—क्या तुम बतला सकती हो, राजकुमारी! कि वे कौन से साधन हैं जिन्हें अपनाया जाकर सम्राट की अबाधसत्ता प्रजा के हाथों सौंप दी जाय। एक ओर तुम हिंसक युद्ध से घबराती हो, दूसरी ओर पिताजी की हत्या के लिए कुटिल नीति का भी सहारा नहीं लेने देना चाहती, तब मैं कैसे जुल्म भरे शासन की छाती पर न्याय और समानता का प्रजा-राज्य स्थापन कर सकूँगा।

"राजेश्री! कुछ भी हो, मेरा क्षत्रिय हृदय अनेक संघर्ष एवं हिन्सक युद्धों को रोकने के लिए अपने एक मात्र शत्रु प्रसेन जीत से लोहा लेने में कभी न मुड़ेगा और उसे मिटा कर ही शान्ति ग्रहण करेगा। मैं आज हिंसा अहिंसा पर विचार करने में असमर्थ हूँ।"

राजेश्री अनुनय विनय करते हुए बोली—"सम्राट, विक्रम!" किंतु उपेक्षा की भावना से विक्रम बोला—मत कहो मुझे सम्राट! राजेश्री! व्यङ्ग और उपहास द्वारा अपमान के पके हुए व्रण को बेदर्दी से न मसलो। मेरे लिए सम्राट पद व्यंग है। मैं इस जगत में अगम पथ पर

भटकने वाला एक ऐसा यात्री हूँ जिसका प्रखर वैभव-सूर्य अस्त हो चुका है। मैं अंधेरे में मार्ग टटोल रहा हूँ।

राजेश्री विक्रम के चरणों में लोट गयी और बोली--महाराज! आप सम्राट हैं, सम्राट! साम्राज्य खोकर भी प्रजा के हृदय साम्राज्य में आपका राज-सिंहासन अक्षुण्ण है। आप भावनाओं की वेदना में अपने को निमग्न करें। देखिये, मैं आपके सम्मुख सर्वस्व उत्सर्ग कर कुछ याचना कर रही हूँ। मेरी मनचाही भीख मुझे दे दीजिये। मैं अकिञ्चन-की भावना के साथ आपकी सेवा में संलग्न हूँ। मैं कह चुका, राजेश्री! मुझे अधिक मोहित न करो। सम्राट प्रसेनजीत के सम्बन्ध में की हुई निश्चित धारणा से मुझे विचलित भी न करो। आज मेरे पास तुम्हें देने के लिए कुछ नहीं है।

ठुकराई हुई राजेश्री बड़ी बड़ी बूंदों में रो पड़ी। उसका मुख श्री-विहीन हो गया। वैभव-दर्प के बीच पली राजकुमारी उत्सर्ग की निर-पेक्षित भावना से हतप्रभ हो गयी। विक्रम संज्ञा विहीन बनकर सब कुछ देखता रहा। राजेश्री के नेत्र रोते २ सूज गये। विक्रम के मुख से सहानुभूति का एक शब्द भी न फूटा।

राजकुमारी अपनी भींगी पलकों को अञ्चल से पोंछ कर उठ खड़ी हुई और अपने आप ही बोली--चलिये।

अन्यमनस्क भाव से विक्रम चल पड़ा।

निरन्तर दो दिन की यात्रा के पश्चात् अपने निर्दिष्ट शिविर में विक्रम पहुँच गया।

अरण्यक एवं द्युमत्सेन के साथ राजेश्री को सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बड़े-बड़े लोक नायक उपस्थित हुए और विशाल जन-समूहों के बीच राजेश्री का स्वागत किया गया।

राजेश्री अपने प्रति सद्भाव देखकर बहुत ही संतुष्ट हुई। उसका चिन्ता एवं विषाद युक्त मुख हँसते हुए गुलाब की भाँति खिल उठा।

× × ×

महान् राजेश्री को विक्रम के शिविर में आये कई दिन समाप्त हो चुके

थे; किन्तु कई दिवसों से उसका साक्षात्कार विक्रम से न हुआ था। राजकुमारी को ज्ञात न था कि विक्रम कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं ? वैसे तो राजकुमारी स्वयं शिविर के प्रधान की भाँति रह रही थीं। राजकुमारी के पग-पग पर आदर और सम्मान बिछा हुआ था। उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूर्ण करने में शिविर के दास-दासी हृदय से तत्पर रहते थे। पल-पल में अरण्यक एवं द्युमत्सेन राजकुमारी की अभ्यर्थना करते हुए उनकी आज्ञा-पालन करने में सतर्क रहते थे। समय-समय पर अनेक भूखण्डों के नायकों से भी भेंट हुआ करती थी। उनके साथ अपने राजनैतिक विचार-विमर्ष कर राजेश्री प्रसन्न हुआ करती थी। अनेक बार विक्रम के शिविर को देख कर राजेश्री को विस्मय हुआ करता था।

वह सोचती—यह शिविर अनेक रहस्यों के परिधान से ढका हुआ है। इसमें अगणित दास-दासी हैं, कार्य-कर्त्ता और नेता हैं, सैनिक और सेनापति हैं, राजा और प्रजा हैं। सभी सुनियंत्रित हैं, कार्य दक्ष हैं, स्वस्थ हैं। विक्रम पद-च्युत सम्राट होकर भी अनेक संघों एवं राजनैतिक रहस्यों का अभेद्य व्यूह बना हुआ है। एक विशाल नगर के तुल्य आमोद-प्रमोद एवं सुख-साजों से सुसज्जित शिविर विक्रम की महानता का परिचायक है। यही वह विक्रम है जो यात्रा के दिनों में मेरे सामने कन्द, मूल एवं फल रख कर अपनी अकिञ्चनता की निष्फल पीड़ा का अनुभव करता था। आज मैं देखती हूँ कि विक्रम स्वप्न सदृश मेरे जागृत आखों से दूर है। सारी व्यवस्थाएँ उसके ओझल रहने की अवस्था में भी सुचारु रूप से चल रही हैं किन्तु उसकी कहीं चर्चा तक नहीं। मैं उसके शिविर में मेहमान की भाँति रह रही हूँ। छोटे-बड़े सभी मेरे प्रति आभार प्रदर्शन करते हैं और मेरी सेवाएँ उद्वेग हीन भावना से करते हुए सुखी होते हैं। यह सब क्या है ?"

"विक्रम ने मेरे हृदय में कितने गहरे भाव किये हैं, इस पीड़ा को अनेक बार विक्रम पर प्रकट करते-करते मैं रुक गयी हूँ। जीवन के निराशोन्मुख भावों ने, सुख की सूखती हुई हरियाली को बहुत पहले सूचित कर दिया है। सम्पूर्ण जीवन की स्नेह-वल्लरियों को बालू की

भीत पर भौंड़ा कर मैंने अनुचित किया है। आज निराशाओं के तीव्र झोंके हृदय—पिण्ड को उखाड़ कर फेंक से रहे हैं। मैं पहलू बदल रही हूँ पर छिपा हुआ 'जलवए-दीदार' का नासूर कसक उठता है। मेरे आँसुओं से तर मुखड़े पर जो उदासी छायी है, वह मुझे साहसी जीवन से दूर ले कर भागती हुई दिखाई पड़ती है। विक्रम की भाँति समतल पर जीवन टिका रखना दुश्वार-सा हो गया है। काश, अगर उस चाँद के टुकड़े को भूल सकती—"

"यह सब क्या है? सुनती हूँ कि रूप की आसक्ति जब निरङ्कुश मन को मतवाला बना दे, जब मद्ग-होश होकर रूप की वारुणी में हम अपने को सराबोर कर दें और जब हम तीरे-नजर के शिकार होकर बिस्मिल हो जायँ, तब भी बेलौसी की क्षणिक रंगाली दुनिया की परख करने की तीव्र-शक्ति हमें रखनी ही चाहिए क्योंकि किसी नजारे का मीठापन आज में जैसा अनुभव कर रही हूँ, उसकी रोचकता कल कमने ही वाली है। फिर भी, मेरा दिल कैसा मतवाला है?"

इसी प्रकार सोचते-सोचते निरन्तर कई दिनों से विक्रम से मिल न सकने के कारण राजेश्री मौन रहने लगी। मिलने-जुलने वालों से शीघ्र निबट कर वह चुपचाप अपने निवास स्थान में बैठी रहती थी। विक्रम के बिना उसे कुछ भी भाता न था। एक दिन अरण्यक के आने पर राजेश्री ने पूछा।—क्यों जी, अरण्यक! महाराज कहीं बाहर गये हैं क्या?

"नहीं तो," अरण्यक ने सिर हिला कर उत्तर दिया।

पर, वे कहाँ रहते हैं? मैंने शिविर में उन्हें कहीं न देखा।

महान् राजकुमारी। बात यह है कि महाराज प्रायः एकान्त-सेवी हैं। जहाँ तक वे टाल सकते हैं, समूह को अपने से दूर रखते हैं।

किन्तु अरण्यक! मुझे तो इस प्रकार बिलग होकर रहना बोझ-सा प्रतीत होता है तुम अपने महाराज से जाकर कहो कि मैं मिलना चाहती हूँ।

जो आज्ञा—कह कर अरण्यक चला गया और घड़ी भर पश्चात्

आकर उसने प्रार्थना की कि महाराज कल सन्ध्या समय प्रीति-भोज के अवसर पर मिलेंगे। महान् राजकुमारी! आपके शुभागमन पर ही इस प्रीति-भोज का आयोजन किया गया है।

ज्यों-त्यों करके राजकुमारी ने वह दिन समाप्त किया। दूसरे दिन जैसे ही उसने अपने शयन-गृह से उठ कर शिविर की ओर दृष्टिपात किया, चारों ओर सफाई सजावट की व्यस्तता दिखलायी पड़ी। हरित बन्दनवार, तोरण, पताके आदि माङ्गलिक वस्तुओं और द्रव्यों से सारा शिविर अनुपम रमणीयता की सृष्टि कर रहा था। चारों ओर 'महान् राजेश्री चिरजीवी हों' के हेम-जटिल वर्गाकार विज्ञापन पत्र दिखलायी पड़ने लगे।

क्षण भर में राजेश्री सब कुछ समझ गयी। हर्षोल्लास से उसका हृदय परिप्लावित हो उठा। वाद्य यंत्रों की मोहक तरङ्गों ने हृदय वीणा। के सुप्त तारों को अनुरागमयी रागिनी से झङ्कृत कर दिया। राजेश्री दैनिक चर्या से निवृत्त होकर सारे दिन अपने जीवन की महान् भावनाओं में लिप्त रही।

धीरे-धीरे सन्ध्या आयी और वह भी बीत गयी। राजकुमारी अँगड़ायी लेकर उठी और शृङ्गार-गृह में जाकर नूतन परिधानों और पुष्पालङ्कारों से अपने को सजाने लगी। दास-दासियाँ राजेश्री की त्रिभुवन मोहनी रमणीयता को देखकर पुलकित हो उठीं।

क्षण भर में सारा शिविर असंख्य दीपकों की ज्योति से (प्रकाशित हो उठा। शिविर के एक कोने से जन-समूह का कोलाहल प्रारम्भ हुआ और गगन भेदी गर्जना करते हुए असंख्य-स्वर बोल उठे—

"स्वराज्य हमारा लक्ष है" "सम्राट् की सत्ता का नाश हो" "सामन्तों और उमरावों का आधिपत्य निःशेष हो" "प्रजातंत्र चिरंजीवी हो" "महान राजेश्री चिरंजीवी हों।"

तुमुल घोष करती हुई सारी भीड़ राजेश्री के वास स्थल पर पहुँची। राजेश्री, भीड़ के बीच, सुसज्जित वेष में आकर खड़ी हो गयी। उसने सिंहिनी जैसे दहाड़ कर नारा लगाया—

"प्रजातन्त्र चिर-जीवी हो।"

महाराज विक्रम ने अपने अन्य नरेश, मित्रों एवं लोक नायकों के साथ मिल कर राजेश्री का स्वागत किया। और; पुष्पहारों से सुसज्जित महायान पर बैठने की प्रार्थना के साथ राजेश्री का निवेदित शब्दों द्वारा आदर किया।

इस महान अवसर पर विक्रम द्वारा आदरित होकर राजेश्री कृतकृत्य हो उठी। वह अतुल ऐश्वर्य युक्त राज लक्ष्मी-सी बन कर महायान पर आरूढ़ हो गयी।

आनन्दातिरेक से राजेश्री के कमल-नाल जैसे दोनों कोमल हाथ उठकर समस्त जन-समूह पर पुष्पों की वर्षा करने लगे। सम्पूर्ण वातावरण हर्षोन्माद की पुलकावलियों से गूँज उठा। विक्रम समस्त मित्रों एवं सैनिकों को राजेश्री के महायान के पीछे लिये हुए अन्त में एक सभा-मण्डप पर जा पहुँचे। सारा जन-समूह रोके हुए जल प्रवाह की भाँति उसी मण्डप के नीचे आकर एकत्रित हो गया। राजेश्री महायान से उतर कर एक मञ्च पर जा बैठी। चुने हुए स्थानों पर अन्य नरेश एवं महत्व-पूर्ण व्यक्ति आकर आसीन हो गये।

महाराज विक्रम अपने स्थान पर खड़े होकर कुछ कहने को उद्यत हुए। चारों ओर शान्ति छा गयी। महाराज ने उपस्थित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा—

आदरणीय नरेश मित्रों एवं सहयोगियों।

"आज इस शुभ अवसर पर हम सब लोग महान राजकुमारी राजेश्री के शुभागमन पर प्रीति-भोज के लिए एकत्रित हुए हैं।"

"राजेश्री सम्राट् प्रसेनजीत की एकमात्र उत्तराधिकारिणी हैं। आप प्रजा-राज की समर्थक हैं। आप स्वेच्छाचारी निरंकुश शासकों के तख्तो-ताज को छीन कर, सत्ता की शक्ति प्रजा के हाथों में देने जा रही हैं, इस लिए राजकुमारी के नेतृत्व को स्वीकार कर, हम लोग प्रार्थी हैं कि सम्राट की सत्ता निःशेष बनाने में हमारी सहायक हों।"

महाराज विक्रम अपने स्थान पर बैठ गये और तालियों की गड़गड़ा-हट एवं जय-ध्वनि के नारों से सारा वायु-मण्डल गूँज उठा।

राजेश्री अपने मंच पर खड़ी हो गयी। दर्शकों के नेत्र राजेश्री पर गड़ गये। वह चारों ओर अपनी रूप-राशि बिखेर कर मधुर हास्य करते हुए विनम्र शब्दों में बोली—

"महाराज विक्रम ! मान्य राजन्य वर्ग !! एवं अन्य महज्जन !!!

"आज की इस विराट् सभा का आयोजन मेरे प्रति प्रेम और आदर प्रदर्शित करने के लिए जिस सुजनता और सद्भाव के साथ किया गया है, वह न भूलने की वस्तु है। यह समर्पित हृदय का प्यार मुझे याद रहेगा। मैं सोचूँगी—एक ओर मैं—एक क्षुद्र नारी, दूसरी ओर आज के युग का महान् पुरुष विक्रम ! असंख्य नर-नारियों के हितों का प्रतिनिधि !! साम्राज्य वाद का कट्टर नाशक शत्रु।

"मैं महाराज विक्रम की अतिथि पूजा की क्या प्रसंशा करूं ? उन्होंने यह दिखलाया है कि महान् पुरुष अपने शत्रुओं तक को अतिथि बनाकर पूजते समय हृदय के आसन बिछा देते हैं। लगभग आप सभी लोग जानते होंगे कि मैं उनके प्रबल शत्रु सम्राट् प्रसेनजीत की एकमात्र कन्या हूँ, फिर भी, उन्होंने जिस सम्मान से मुझे विभूषित किया है, उसकी कृतज्ञता प्रकट करने में मेरी वाणी सर्वथा अयोग्य है।"

"आज सभा का एक मौन रहस्य भी है। आज से लगभग एक वर्ष पूर्व, मेरी ही राजधानी में, छद्मवेश धारण किये हुए, एक गुप्त सभा में महाराज विक्रम से और मुझसे भेंट हुई थी। महाराज विक्रम के नव-सन्देशों ने, समस्त गुप्त राजनैतिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। उन एकत्रित प्रतिनिधियों में से सब ने मिल कर महाराज विक्रम के नेतृत्व को स्वीकार किया।'

"मैं धीरे-धीरे महाराज के सम्पर्क में आयी और महाराज के सहवास में भूखण्ड के अनेक भागों में, अनेक राजनीतिज्ञों के साथ विचार विनिमय करती रही।'

"निष्कर्ष में आज के युग के लिए सबने एक मत से स्वीकार किया है कि विशुद्ध जन-तन्त्र शासन ही शासक और शासित के मध्य न्याय और समानता स्थापित रख सकता है स्वार्थान्ध शोषक सरकारें

बहुमत के हित को कुचलती हुई वर्ग विशेष के हितों पर विशेष दृष्टि रखती हैं, परिणामतः अपने को शासित कहलाने वाला व्यक्ति बहुमत में होकर भी शासक वाले अल्पमत से हीन और दुखी रहता है।

"इस निश्चय पर पहुँचने के पश्चात् दूसरा निश्चय जो स्वाभाविक ही था, यह किया गया कि सम्राट् प्रसेनजीत को बाह्य सत्ताओं की सहायता से वंचित कर प्रजा राज्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाय और यदि संभव हो तो बल-पूर्वक राज सिंहासन पर प्रजा का स्वामित्व स्थापित किया जाय।"

"महाराज विक्रम के नेतृत्व में साम्राज्य को हिला देने वाली समस्त तैयारियाँ हो चुकी हैं। होली सुची हुई प्रस्तुत है। केवल अग्नि-स्फुलिङ्गों को चमका देने भर की देर है। अग्नि कणों के प्रकाशित होते ही सर्वनाश ही सर्वनाश है। महज्जना! महाराज विक्रम की पराक्रममय संगठन-शक्ति उनके व्यक्तित्व के साथ है। मैं विश्वास करती हूँ कि हिंसक युद्ध उठ खड़े होने पर महाराज अवश्य विजयी होंगे; किंतु मैं हिंसा के समर्थकों से सहमत नहीं हूँ। हिंसक युद्ध साम्राज्य की लिप्सा को निर्मूल नहीं कर सकते। समानता, सत्य और न्याय की परमावस्था में ही हमें सुख मिलेगा। हिंसक युद्धों के प्रतिकार स्वरूप अनेक प्रकार की हिंसाओं का सृजन होगा, इसलिए मुझे यह पसन्द नहीं कि साम्राज्य वाद की जड़ खोदते समय हम भी उन्हीं हीन उपायों और साधनों से काम लें जिनके द्वारा पूर्व काल में साम्राज्य स्थापित किये गये हैं।

"प्रश्न यह रह जाता है कि प्रजा-राज्य की स्थापना कैसे हो? मेरा उत्तर है कि योजना मेरे पास है। यदि महाराज विक्रम ने स्वीकार किया तो मैं संगठित शक्ति द्वारा बिना एक बिन्दु रक्त बहाये ही स्वराज्य की स्थापना कर सकूँगी किन्तु मेरी योजना कार्यान्वित होते ही समस्त देशों की प्रतिनिधियों को उतने समय तक मेरी ही आज्ञाओं का पालन करना होगा।"

"मैं इससे अधिक कुछ न कह कर आदर और प्रेम प्रदर्शित करते

हुए सब के समक्ष नत-मस्तक होकर श्रद्धा एवं भक्ति-पूर्वक नमस्कार करती हूँ।"

इतना कह कर राजकुमारी अपने मञ्च पर बैठ गयी।

सम्पूर्ण आगत सभासदों के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए महाराज विक्रम ने कहा—"हमने पूर्व ही महान् राजेश्री के नेतृत्व को स्वीकार करने का प्रस्ताव किया था। हर्ष है कि आगन्तुक नरेशों ने भी मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन किया। साथ ही सभी ने मिल कर राजकुमारी के पथ-प्रदर्शन को भी स्वीकार कर लिया है इस हेतु हम एक बार पुनः अपनी प्रतिज्ञा को घोषित करते हैं कि जब तक सत्य, समानता एवं न्याय के आधार पर प्रजातंत्र न स्थापित हो जावेगा, जब तक शोषक सम्राटों की सत्ता धूल में न मिल जायगी और जब तक शासितों के लिए भी शासन का सिंहासन न खाली हो जावेगा, तब तक हम बिना किसी विराम के अपना स्वातन्त्र्य-संग्राम जारी रखेंगे। साथ ही आर्थिक विषमताओं के कारण श्रेणी-भेद ने जिन सामाजिक असम्बद्धताओं को पोषित किया है, उन्हें भी हम निर्मूल करेंगे।"

"हम यह भी न भूलेंगे कि सम्राट् प्रसेनजीत जैसे सत्ताधारी गण जीवन के अधिकारों से भी वंचित रखने योग्य हैं। ऐसा व्यवहार उनके लिए यूं अपेक्षित है कि व्यक्ति गत सुख-सम्पत्ति की लिप्सा के कारण असंख्य नर-नारियों को अपनी सत्ता की ओट में बाह्य सत्ता का गुलाम बनाये हुए हैं। हमें उन अमीर उमरावों की भी आवश्यकता न होगी जो सामन्तवाद के अधिकारों पर इतरा कर किसान मजदूर का शोषण जारी रखना चाहते हैं सारांश यह कि प्रजातन्त्र राष्ट्र में सर्वहारा वर्ग अपने श्रम एवं सम्पत्ति का स्वयं भोक्ता होगा।"

इस प्रकार अपने स्वातन्त्र्य-संग्राम की वृत्ति को दुहरा कर महाराज विक्रम ने "स्वातन्त्र्य-संग्राम की जय" के नारों को उद्घोषित करा कर सभा विसर्जन किया।

आगन्तुक अतिथि सभा-मंच से उठ कर राजकुमारी राजेश्री के साथ प्रीति-भोजनालय में पहुँची। संगीत लहरियों की मधुर मूर्च्छना में प्रीति-

भोज प्रारम्भ हुआ और आनन्द प्रमोदमय हास विलास के साथ उस विराट आयोजन की इति हुई।

× × × ×

चिन्ता-मग्न सम्राट प्रसेनजीत अपने गुप्त मंत्रणालय में बैठे किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। कभी-कभी अपने आसन से उठ कर प्रतिहारी से पूछ बैठते थे कि क्या मंत्री शत्रुजित अब तक नहीं आये?

नकारात्मक उत्तर पाकर पुनः अपने स्थान पर आसीन हो जाते। रह रह कर उनकी अन्तर्दृष्टि में सम्राट विक्रम की मूर्ति खड़ी हो जाती। वे उसे भय और द्वेष की दृष्टि से देख कर अपने आप अस्फुट शब्दों में बोल उठते—विक्रम! तेरे रक्त से रंग कर इन हाथों को शुद्ध करूँगा। उफ, यह मेरी कैसी भयानक भूल थी कि तेरी सत्ता तुझसे छीन कर मैं सन्तुष्ट हो गया। यदि मैं उसी समय तेरे प्राणों का गाहक बन बैठता, तो सम्भवतः साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक बगावत एवं राजद्रोह के लक्षण न दिखलायी पड़ते। भेंड़ की तरह मं में करने वाली प्रजा सिंह की तरह दहाड़ कर मेरी सत्ता उलटने का प्रयत्न न करती।

बावलों की तरह उठ कर कमरे में प्रसेनजीत टहलने लगा और मुट्ठी बन्द करके उद्वेग के साथ बोल उठा—"विक्रम! विक्रम!! याद रख!!! मैं तुझे जीता न छोड़ूँगा। तूने साम्राज्य भर ही में नहीं, वरन् मेरे घर में भी आग लगा दी है। राजेश्री को षडयंत्रों द्वारा फोड़ कर घर के भेदी को अपने संरक्षण में कर रक्खा है। मेरी एक मात्र उत्तराधिकारिणी कन्या तेरे हाथों की कठपुतली है। तू साम्राज्य की प्रजा को राजेश्री के नेतृत्व का प्रलोभन दिखा कर, प्रजा-राज्य स्थापित करने की जो चाल चल रहा है, उस कपट को मेरे नेत्र अच्छी तरह देख रहे हैं।"

"उफ, राजेश्री भी कितनी कृतघ्न निकली। उसने मां बाप के दुलार-प्यार पर ठोकर मार कर शत्रु के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। आह! मेरे प्यार की प्रतिमा विक्रम के चरण-रज चूम रही है। मेरा सम्पूर्ण मान-सम्मान, प्रभुत्व और वैभव जैसे अपने आप ही विक्रम के पावों तले रौंदा जा रहा है।

प्रसेनजीत एक दीर्घ निश्वास लेकर पुनः अपने आसन पर जा बैठा। सहसा द्वारपाल ने आकर एक पत्र उसके हाथ में रख दिया और बोला—महाराज ! पत्रवाहक स्वयं आकर मिलना चाहता है।

प्रसेनजीत ने पत्र फाड़कर बेचैनी से पढ़ना प्रारम्भ किया और पत्र पढ़ने के पश्चात् एकाएक उसका मुख प्रसन्न हो गया। मुसकुराते हुए द्वारपाल से बोला—"आगन्तुक व्यक्ति को मेरे पास सम्मान पूर्वक लाओ।"

क्षण भर पश्चात् द्वारपाल के साथ सैनिक वेश में, एक स्वस्थ, सुगठित एवं सुन्दर युवक सम्राट प्रसेनजीत के गुप्त मंत्रणालय में आ पहुँचा। द्वारपाल को विदा करते समय सम्राट प्रसेनजीत ने कहा—देखो, आज मुझसे मिलने वाले कोई न मिल सकेंगे। तुम राज कर्मचारियों से मेरे महल में न होने की सूचना दे दो।

द्वारपाल आगन्तुक व्यक्ति पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डालते हुए कमरे से बाहर हो गया।

सम्राट प्रसेनजीत ने उठकर आगन्तुक महाराज मालवा नरेश का स्वागत किया और अपने पार्श्व में बिठलाते हुए कहा—"महाराज ! आपके इस ऋण का मैं सदैव ऋणी रहूँगा।"

मालव नरेश ने गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—"सम्राट ! इसमें ऋणी होने की क्या बात है। वास्तव में सत्य बात तो यह है कि विक्रम ने अपनी योजना में राजा एवं उमरावों की सत्ता को कतई स्वीकार नहीं किया। मैं विक्रम की राजनीतिक सूझों को अयथार्थ तो नहीं मानता; किंतु युगान्तरकारी परिवर्तनों का ग्रहण अल्प काल में संभव नहीं। इसी लिए मुझे उनके साथ चलने में अड़चने दिखाई पड़ रही हैं।

सम्राट प्रसेनजीत मालव नरेश की बातों पर कुछ-कुछ संदेह करते हुए प्रकट में बोले—क्या आप निश्चयपूर्वक जानते हैं कि विक्रम हिंसक युद्ध द्वारा साम्राज्य की सत्ता को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ हो सकेगा ?

'हो सकेगा' का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। सच तो यह है कि

वह अब तक केवल महान् राजेश्री के अनुरोध के कारण ही युद्ध नहीं छेड़ सका है।

क्या आप बतला सकते हैं कि विक्रम ने कितनी सेना एकत्रित कर रखी है ?

"पचास लक्ष !" मालव नरेश ने कहा।

इसके अतिरिक्त युद्ध को लम्बे समय तक चलाने के लिए अर्थ के कौन-कौन से उद्गम-स्रोत हैं !

विस्मय जनक मुद्रा में मालवाधिपति बोले—"सम्राट विक्रम के लिए अनेक स्रोत हैं। प्रजा, व्यवसायी एवं अनेक नरेश-गण विक्रम के पग-पग पर अपार धन-राशि बिछाने को तत्पर हैं। विक्रम की सबसे बड़ी जीत यही है कि वह लोक-मत एवं लक्ष्मी की कृपा दृष्टि प्राप्त कर मुकुटहीन सम्राट है।

सम्राट प्रसेनजीत चिन्तित मुद्रा में बोले—यदि विक्रम को पराजित करने में शीघ्रता की जाय तो, संभव है, वह अपने को न सम्भाल सके; किंतु युद्ध राज-लक्ष्मी, विपुल ऐश्वर्य एवं अपार जन-शक्ति के बिना जीतना दुस्तर होगा।

प्रसेनजीत वीभत्स घृणा एवं क्रोध से विचलित अपने हाथ मीजने लगा। वह सरुष बोला—"मालवाधिपति ! विक्रम के आततायीपन को नाश करने के लिए यदि समस्त सामन्तों एवं उमरावों की लक्ष्मी को स्वाहा करना पड़ा, तो भी मैं न हिचकूँगा........किंतु

बीच ही में मालवाधिपति बोले—सम्राट ! यदि आप क्षमा करें, तो मैं कुछ स्पष्ट कहूँ।

कहिये—चिन्तित मुद्रा में प्रसेनजीत बोला।

मालवाधिपति क्षण भर सम्राट की चेष्टा को परखते हुए बोले—सम्राट ! मैं देखता हूँ कि आपका धैर्य विक्रम की विपुल साधन-सम्पन्नता की बात सुनकर छूट-सा रहा है, किंतु करूँ क्या ? सत्य पर पर्दा डालते नहीं बनता। मुझे दोनों ओर की शक्तियों का अन्दाजा

लगा कर कहना पड़ता है कि यदि हिंसक-युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो सर्वनाश के सिवा कुछ भी हाथ न लगेगा। आप राज-कोष के बल पर इस युद्ध को अधिक दिनों तक नहीं चला सकते।

विक्रम को आपके दिवालिये राज-कोष का पता है और वह जानता है कि सत्ता-ग्रहण करते समय, आपको बाह्य सत्ताओं की भेंट में विपुल धन राशि चढ़ानी पड़ी है। इसी लिए वह आपके जन-धन एवं शक्ति की परवाह नहीं करता। दूसरे जिस बाह्य सत्ता के बल पर आपने सम्राट-पद ग्रहण किया था, वह अमीर एवं सामन्तों की सत्ता स्वयं अपना अन्तिम दम तोड़ रही है। विक्रम की विद्रोही भावनाओं ने सबसे प्रथम उसी सत्ता पर प्रहार किया है और आज कूटनैतिक चालों के कारण उस सत्ता के शासित और शासकों के बीच प्रबल संघर्ष चल रहा है। वास्तव में, यदि विक्रम चाहे तो पहले आपकी सहायक सत्ता को ही समाप्त कर सकता है ;किंतु आज वह प्रजा-राज का समर्थक होने के कारण अपनी नैतिक विजय चाहता है। उसके हृदय में महान राजेश्री ने हिंसक युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न करा कर आपकी सहायता की है। यद्यपि विक्रम अहिंसा का उतना कट्टर समर्थक नहीं है, पर तो भी, महान् राजेश्री की उच्च सेवाओं से प्रभावित अवश्य है। राजकुमारी की योग्यताओं के कारण ही विक्रम ने अपना नेतृत्व त्याग दिया है। प्रस्तुत समय में राजेश्री ही सर्वे सर्वा है इसलिए हिंसक युद्ध को कुछ समय के लिए टला हुआ ही समझिये।"

सम्राट प्रसेनजीत शान्त होकर एकाएक उस योजना का अध्ययन करने लगे, जो कुछ समय पूर्व उनके वैदेशिक मंत्री ने विक्रम की शक्तियों का अन्दाजा लगाकर भेजा था। मालवाधिपति सम्राट के पार्श्व में बैठे २ उनकी आन्तरिक अभिव्यक्तियों को पढ़ने लगे। ज्यों २ सम्राट प्रसेनजीत योजना का अध्ययन करते जाते थे, त्यों २ अनुभव होता जाता था जैसे सत्ता की प्रत्येक लड़ियाँ छिन्न-भिन्न होती जा रही हैं।

कुछ समय पश्चात् सम्राट प्रसेनजीत ने योजना-पत्र को वहीं रख दिया और अपनी चिंता को छिपाते हुए कुछ निराश स्वर में बोले—

मालवाधिपति ! इस योजना के देखने से ज्ञात होता है कि जैसे विक्रम आज भी मुझ जैसे सम्राट से अधिक शक्ति रखता है ।'

मालवेश चुप ही रहे किंतु प्रसेनजीत ने क्षण भर की चुप्पी के बाद मालवेश से पुनः प्रश्न किया—क्या यह संभव है कि विक्रम ने हमारे वैदेशिक मंत्री को मिलाकर अपनी शक्तियों का हवाला बढ़ा चढ़ाकर दिया हो और इसी कारण से या जान बूझकर हमारे मंत्री ने विक्रम की शक्ति की सूचना अधिक संख्या में दी हो ।

सब कुछ संभव है, सम्राट ! विक्रम जिसे चाहे, मिलावे या उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखे । वह अपनी संगठित शक्ति को लेकर एक बार काल को भी ललकार सकता है ।

प्रसेनजीत सम्पूर्णतः निराश हो कर बोले—ज्ञात होता है कि मेरी विजय के पुण्य-पर्व व्यतीत हो चुके । आह ! मैंने क्या किया ? जिन अनेक षड्यंत्रों द्वारा विक्रम को पद-च्युत कर मैंने सत्ता-ग्रहण की, वे षड्यंत्र जैसे मेरे ही विनाश के बीज थे । सत्ता के क्षणिक रंग-बिरंगे स्वप्नों ने मुझे जिन भयानक विश्वासघात जैसे कर्मों की ओर प्रेरित किया, वे जैसे अपने माया पाश में जँकड़ कर मेरे ही वैभव को तिरोहित करने आये थे । मैं कहीं का न रहा । धर्म तो निन्द्य षड्यंत्रों के साथ ही बिदा हो चुका था, धन बाह्य-सत्ता की भेंट चढ़ चुका और अब लक्ष-लक्ष प्राणियों की निरपराध हत्या द्वारा सारा साम्राज्य रक्तरञ्जित होने जा रहा है । ओफ, विनाश के इस विघटन में मेरे सिर पर निर्दय हत्याओं के बोझ के सिवा और क्या रक्खा जायगा ? रक्त से सने भोगों की छलना में राक्षसी वृत्तियों के उपहार के सिवा और कुछ नहीं प्राप्त होना है । तो क्या मैं साम्राज्य की लिप्सा से मुख मोड़ लूँ, अथवा विक्रम के जिन सनातन अधिकारों को छीन कर मैं सम्राट बना हूँ उन्हें आगे आनेवाली पीढ़ियों को उत्तराधिकार में देकर जाऊँ ? उफ् उस पद की उत्तराधिकारिणी राजेश्री भी उन्हीं विद्रोहियों के जमात की विशेष सदस्या है । मैं क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता ।

सम्राट प्रसेनजीत चिन्तित होकर टहलने लगे । सहसा उनका पीला

मुख आवेश मय आवेग से लाल उठा। टहलते हुए सम्राट् ने पूछा—मालवेश। मंत्री शत्रुजित अब तक विक्रम के शिविर में स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करते होंगे, ऐसा आपका विश्वास है ?

अवश्य ही सम्राट।

कभी नहीं, मालवेश! वह मुझसे कह कर गये थे कि यदि वह १५ दिवसों तक वापस न लौटें, तो इसका अर्थ होगा कि वे विक्रम के बन्दी या मौत की गोद…………

सम्राट् प्रसेनजीत की बात समाप्त भी न होने पायी थी कि एकाएक झपट कर मालवाधिपति ने प्रसेनजीत को भूमि पर पटक दिया और गला दबा कर छाती पर चढ़ बैठा।

प्रसेनजीत मालवाधिपति को बन्दी बनाने की भावना से द्वारपाल को पुकारने बढ़े थे, पर वह असफल रहे।

मालवेश ने प्रसेनजीत की छाती पर छुरी की नोक लगा दी और बोला—"सच बता! प्रसेनजीत! तू किन अरमानों को पाल कर सम्राट बना था? राक्षस बता। प्रजातंत्र के सिद्ध जिन राजाओं और उमरावों को युद्ध में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया गया है, उसकी सूची कहाँ पर है और वे लोग कितनी सहायता देने को प्रस्तुत हैं? तू ने समझा होगा; कि तेरा मंत्री अब तक विक्रम के शिविर में अपना जाल फैला रहा होगा किन्तु तुझे ज्ञात नहीं कि तेरे षड्यंत्रों का मंत्री स्वरूप दाहिन अङ्ग, विक्रम की रक्त-प्यासी तलवार का शिकार हो चुका। याद रख! बाह्य सत्ता के संरक्षण में रह कर तू ने राष्ट्र का जितना बड़ा अहित किया, वह अक्षम्य है। तू ने उन्हीं बाह्य सत्ता वालों से मिल कर राष्ट्र के बटवारे का जो नाटक रच रक्खा है, वह विक्रम की तीक्ष्ण दृष्टि देख रही है। तेरा मंत्री शत्रुजित बड़ी तलाश के बाद शिकार की भाँति शिकारी के द्वार पर पहुँच गया। आज वह चलती फिरती दुनिया की अतीत घटनाओं की स्मृति-मात्र है। उसी दुष्ट ने फूट के बीज बोकर राष्ट्र की अखण्ड एकता को खतरे में डाला है। तुम भी उन्हीं बाहरी सत्ताधारियों के बल पर शत्रुजित को वैदेशिक मंत्री बनाये हुए सम्राट पद के

प्रलोभन से फूल कर विक्रम की एकता एवं शक्ति का अन्त करना चाहते थे।"

"प्रसेनजीत! दग़ाबाज़!! राष्ट्रद्रोही!!! यदि आज तू आग लगा कर राष्ट्र को फूट की होली में भस्म कर देने को कृत सङ्कल्प है, तो विक्रम भी प्रजा-राज्य स्थापित कर ही चैन लेगा। साथ ही तेरा वैभव-सम्पन्न राज-प्रासाद तेरी जीवन-समाधि का शून्य स्तूप बन जायगा। तू एक बार अच्छी तरह समझ ले कि संयुक्त प्रजा की न्याय-पूर्ण हुङ्कार से इन्द्रासन के पद डोल रहे हैं। दमन-चक्र द्वारा यह महान् युगान्तर रोका नहीं जा सकता। काल-प्रभाव की गति को रोक रखना आकाश-कुसुम तोड़ने जैसा निष्फल प्रयास है।"

मालवेश यह सब कहते ही कहते प्रसेनजीत की छाती से उत्तर आया और तिरस्कार एवं घृणा से ठुकराते हुए बोला—जा, एक बार मैं मुझे प्राणों की रक्षा करने का अवकाश देता हूँ। तू मेरा नहीं, विक्रम का शिकार है।"

प्रसेनजीत हाँफते हुए बोला—मालवेश! केवल मेरी हत्या से साम्राज्यवाद का नाश न हो सकेगा। जो प्रजातंत्र के विरोधी हैं, जिन्होंने विक्रम के विरुद्ध संगठित शक्ति एकत्रित की है, उन राजाओं और उमरावों की संगठित शक्ति की सूची मैं दे सकता हूँ किन्तु मेरा अपराध कुछ नहीं। उनके बीच मेरा महत्त्व केवल इसलिए है कि मैं सम्राट् उपाधि धारी हूँ।"

झूठ है, प्रसेनजीत! उन्हें तुम्हारे आतङ्क ने तुम्हारी राष्ट्रद्रोही योजना को स्वीकार करने के लिए विवश किया है। मैं तुम्हें तब से जानता हूँ, जब तुम भी विक्रम के वैदेशिक सचिव थे जब तुमने बाह्य सत्तावादियों के चरणों में स्वदेश के सम्मान को झुका दिया था और जब तुमने विक्रम को कुचल डालने में कोई कोर-कसर उठा न रक्खी।

प्रसेनजीत मन ही मन अपनी भूल पर पछताने लगा। उसे कोई उपाय न सूझता था कि सहायता के लिए किसे बुलाएँ। इधर मालव नरेश उसके इस कपट को ताड़ कर पुनः उस पर झपट पड़े।

प्रसेनजीत ने एक बार मालवेश के वज्र-पाश से मुक्त होने की चेष्टा की पर उसकी एक न चली। अन्त में मालवेश ने प्रसेनजीत को बेदम और बेहोश कर ही साँस ली।

गुप्त मंत्रणालय के इधर-उधर चारों ओर घूम कर भी मालवेश पता न लगा सके कि कोई प्रसेनजीत के रहस्य युक्त मंत्रणालय का ठीक-ठीक जानकार भी है। पर, तो भी, कुछ समय प्रतीक्षा करने के उपरान्त द्वारपाल को बुलाया।

कमरे में प्रवेश करने के साथ ही द्वारपाल की दृष्टि सम्राट् प्रसेनजीत पर पड़ी। उसने पूछा—"सम्राट् की यह कैसी अवस्था है ?"

मुसकुराते हुए मालवेश ने कहा—"बेहोश है।" आनन्दातिरेक से, द्वारपाल के नेत्र चमक उठे ! वह बोला—"मेरा पत्र आपको मिला था।"

हाँ, जी !

अच्छा महाराज ! आप चाहते क्या हैं ?

"मैं चाहता क्या हूँ ? अरे द्युमत्सेन ! दरबानी का लबादा उतार कर फेंक दो और क्षण भर के लिए बिचार करो कि तुम सम्राट् विक्रम के अङ्ग-रक्षक काशी नरेश हो। मित्र ! सच-सच बताओ, तुमने इस नीच की कुटिलता के बीच अपने आप को किस प्रकार छिपाये रक्खा।

मुसकुरा कर द्युमत्सेन बोला—मालवेश ! प्रसेनजीत का द्वारपाल केवल द्वारपाल न था बल्कि विश्वस्त अङ्ग-रक्षक भी। आज मैं स्वामी-द्रोह का अभियुक्त हूँ।

ठहाका मारते हुए मालवेश ने कहा—तुम्हारी स्वामी-भक्ति देख कर मुझे तुम पर दया आती है।

द्युमत्सेन ने मुसकुरा कर कहा—मैंने बहुत-सी ज्ञातव्य बातों की जानकारी कर ली है।

यह सब कैसे संभव हो सका।

मुझे द्वारपाल के साथ सम्पर्क स्थापित करना पड़ा। कुछ उसकी भेंट भी चढ़ानी पड़ी। मेरा बिचार राज-प्रासाद में घुसने का था। इधर द्वारपाल भी कुछ दिनों के लिए अवकाश चाहता था। मैंने उसकी एवज

में काम करना पसन्द किया। उसने सम्राट् की स्वीकृति लेकर मुझे राज-महल में लाकर यहाँ के सब काम समझा गया और मैंने उसी दिन से यहाँ रहना भी शुरू कर दिया। तब से मैं छद्मवेश धारण किये यहाँ पर आपकी प्रतीक्षा किया करता था। हाँ, आज से मेरा रहना खतरे से युक्त होगा।

मालवेश ने कहा—कुछ परवाह नहीं, द्युमत्सेन। चलो हम तुम साथ ही लौट चलें; किंतु प्रजातंत्र विरोधी राजा महाराजाओं एवं अमीर उमरावों की संगठित शक्ति की सूची भी लेते चलो!

द्युमत्सेन बोला—घबराने की आवश्यकता नहीं। वह सब मेरे अधिकार में हैं केवल ले कर चल देने भर की देर है।

द्युमत्सेन शीघ्रता से जाकर प्रसेनजीत की दराज से चाभियों का गुच्छा निकाल लाया और दीवाल के कोष्ठक में से गुप्त पत्र इत्यादि निकाल कर मालव नरेश को दे दिया।

संतोष की श्वास लेते हुए मालव नरेश बोले—द्युमत्सेन! चलो हम लोग शीघ्रता से राज प्रासाद के बाहर निकल चलें।

शीघ्र ही द्युमत्सेन मालव नरेश को साथ में लिए महल से बाहर निकल आया और दोनों घोड़े पर सवार होकर विक्रम से मिलने चल पड़े।

× × ×

मूर्च्छा भङ्ग होने के पश्चात् प्रसेनजीत ने इधर उधर दृष्टि दौड़ायी पर मालवा नरेश को कहीं न पाकर खड़ा हो गया। अपने गुप्त मंत्रणालय से बाहर आकर उसने द्वारपाल को पुकारा; किंतु उसकी पुकार शून्य में विलीन हो गयी।

प्रसेनजीत का माथा ठनका। वह थोड़ा और आगे बढ़कर द्वारपाल के बैठने के स्थान तक जा पहुँचा; किंतु उसे न पाकर बढ़ते हुए ड्योढ़ी तक जा पहुँचा। अनेक अङ्ग रक्षक पहरेदारों को मौज से गपशप करते देख कुछ खीझ-सा उठा और डपट कर बोला—द्वारपाल कहाँ गया?

सहमें हुए स्वर में प्रधान पहरेदार ने कहा—महाराज! वह एक सरदार के साथ कहीं बाहर गया है। जाते समय बतलाते हुए कहा था कि महाराज एकान्तवास में हैं और वे अलग ही रहेंगें। किसी को वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है।

प्रसेनजीत चिन्तित स्वर में बोला—उसे यहाँ से गये कितना समय व्यतीत हुआ।

लगभग दो प्रहर समाप्त हो चुके होंगे।

अच्छा, उन दोनों की खोज में गुप्तचर भेजे जायँ और न मिलने पर भविष्य में फिर यदि दीख पड़ें, तो उसकी मुझे शीघ्र सूचना दी जाय।

प्रसेनजीत लौटकर पुनः अपने गुप्त मंत्रणालय में पहुँचा और चारों ओर सशस्त्र सैनिकों का पहरा बिठलाकर कमरे की प्रत्येक वस्तु पर तीक्ष्ण दृष्टि डालते हुए जैसे ही गुप्त कोष्ठक के पास पहुँचा, उसे खुला और खाली देख कर संज्ञा-शून्य की भाँति छत की ओर देखने लगा। प्रसेनजीत को धीरे २ चक्कर-सा आने लगा। उसके नेत्रों में अँधेरा छा गया। वह अपलक दृष्टि से सूखी छत को पागलों की भाँति घूर २ कर देखता रहा। सहसा उसके पैर डगमगा उठे। वह 'हा हन्त' कहकर भूमि पर गिर पड़ा और बेहोश हो गया।

धमाके की आवाज़ सुनकर पहरेदार उसके पास दौड़ आये और उसे होश में लाने का उपचार करने लगे।

× × ×

अरावली की पर्वतीय घाटी में विक्रम ससैन्य शिविर डाले हुए पड़ा था। मालव नरेश और द्युमत्सेन प्रसेनजीत के महल से उन योजनाओं को उठा लाये थे, जिनके बल पर प्रसेनजीत भावी संग्राम चलाकर प्रजा-तंत्रवादियों को कुचल डालना चाहता था। इस प्रकार की सम्पूर्ण षड़यंत्र पूर्ण योजनायें महान् राजेश्री को अध्ययन के हेतु दी जा चुकीं थीं। विपक्षी दल की जन-धन-शक्ति एवं साधन-सम्पन्नता पर विचार कर राजकुमारी जिस निष्कर्ष पर पहुँची थीं, उसी को बतलाने और अपनी

ओर से शत्रु की सत्ता छिन्न-भिन्न करने के लिए विक्रम ने सहयोगी नरेशों एवं प्रजा-प्रतिनिधियों को एक गुप्त सभा में निमंत्रित किया।

समस्त व्यक्तियों की उपस्थिति में राजेश्री ने शत्रु-शक्ति पर प्रकाश डाला और अपनी योजना उपस्थित करते हुए बोली—सभ्य सदस्यों !

"सम्राट की सत्ता छिन्न-भिन्न करने का जो मार्ग मैंने ग्रहण किया है, वह सम्पूर्णतः युद्ध-प्रयत्नों के विपरीत है। तथापि, दो शक्तियों के बीच जो संघर्ष छिड़ने जा रहा है, वह मेरी परिभाषा में, अहिंसामय युद्ध है। हमें सम्राट की शक्ति को निर्मूल करने में निम्न कार्यक्रम को अपनाना है—

"प्रथम, साम्राज्य के अनेक भागों से एकत्रित होकर आनेवाले धन को सम्राट-कोष में न जाने देकर प्रजा-कोष में एकत्रित करना है। ऐसा करते समय छीना झपटी के रूप में जो हिंसा दिखलायी पड़ेगी वह सामूहिक हिंसा को रोकने एवं शत्रु को अर्थ-बल से पराजित करने में जटिलता को कम करेगी। यह प्रबल शत्रु के विरुद्ध 'आर्थिक घेरा' डालने जैसा युद्ध होगा।

"द्वितीय, जो नरेश सम्राट प्रसेनजीत की सत्ता के समर्थक हैं, उनके राज्य की प्रजा-परिषदों को आर्थिक एवं बौद्धिक सहायता पहुँचा कर सर्व साधारण जनता को सामन्तों एवं उमरावों की सत्ता के विरुद्ध असहयोग एवं प्रजा राज्य की मांग का दृढ़ता पूर्वक समर्थन का देश के कोने-कोने में प्रचार।"

"त्रितीय, साम्राज्य समर्थकों की प्रजा बनने से अस्वीकार करना और युगों से शासक-शासित कहलाने वालों के भेदभाव को मिटाकर शासन करने की योग्यता को समान रूप से स्वीकार करना।"

"चतुर्थ, जन्म एवं वंश परम्परा की झूठी अहम्मन्यता के बड़प्पन को अस्वीकार करना एवं राष्ट्रीय सम्मान के प्रति सब के हृदयों में साम्य भाव स्थापित करना।"

"पाँचवें, अर्थ-साधनों जैसे भूमि, खानें, पर्वत, समुद्र, यातायात मार्ग

आदि के एकाधिकार को अमीर उमरावों एवं सामन्तों के अधिकार से छीन कर प्रजा-परिषदों को सौंपना।"

"छठें, विदेशी आक्रामकों की सत्ता से स्वतंत्र प्रजातंत्र सङ्घ को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से देश को संगठित सशक्त राष्ट्र बनाना।"

"सातवें, सम्राट् के प्रत्येक राज्य कर्मचारी की दास भावना कुचल कर, स्वतंत्र सरकार के सदस्य होने की भावना को दृढ़ करना।"

"आठवें, किसानों, श्रमिकों एवं बुद्धि-जीवियों को आर्थिक दलदल के कीचड़ से निकाल कर, उनकी सामाजिक सेवाओं के फलस्वरूप निर्वाह के लिए, शक्ति और योग्यता के आधार पर पारिश्रमिक प्रदान करना।"

"इसी प्रकार इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तों के आधार पर एक ओर सामाजिक विषमताओं के दूर करने का आन्दोलन खड़ा करना और दूसरी ओर आज की थकी शोषक सरकार से जो अपनी मृत्यु के समय भी विनाश के सङ्कट उपस्थित करने को उद्यत है, बदला लेना।"

सिद्धान्तों की चर्चा के बाद राजेश्री ने समझाया कि जब साम्राज्य के कोने-कोने से साम्राज्य-समर्थकों की प्रजा प्रजातन्त्र का नारा बुलन्द करेगी, तब जोंक की भाँति प्रजा-रक्त को चूसने वाले ये अमीर उमराव और सामन्त गण, सदैव की भाँति अपनी सत्ता से चिपके रहने के लिए समान स्वार्थ वाले व्यक्तियों की संयुक्त शक्ति द्वारा प्रजा को कुचलना तो चाहेंगे किन्तु अपने को अल्पमत में देख कर बहुमत वाली प्रजा-शक्ति के सम्मुख आत्म समर्पण करेंगे।"

"राजेश्री जोर देकर बोली—"मेरा मत है, इस प्रकार साम्राज्य के कोने-कोने से अव्यवस्था और विरोध के उत्पन्न होने पर स्थापित स्वार्थों वाले भेड़ियों को गुर्राने पर प्रजा के संयुक्त बल का शिकार होना पड़ेगा। वे अपनी श्रेष्ठता, शक्ति एवं खूँरेजी को भूल कर, किसी प्रकार अपने जीवन के अस्तित्व को स्थापित रखना चाहेंगे।"

"सदस्यों! मेरा विरोध तो सम्राट् की सत्ता है, शोषकों से है, अमीर उमरावों और सामन्तों की दकियानसी, अर्थलोलुपता एवं प्रभुत्व से है, उनके जीवन और रक्त से कदापि नहीं। खूनी युद्ध तो अनेक बार खून

बहाने की उत्तेजना देता है। यह प्रणाली दानवीय है, यह हमें मान्य नहीं। हमें तो दैवी शक्ति स्थापित करनी है।"

"एक प्रश्न बाकी रहता है। यदि सम्राट् प्रसेनजीत खीझ कर हिन्सक युद्ध के लिए प्रस्तुत हुआ, तब हमें डरने की आवश्यकता नहीं। वह क्रूर प्रजा की सहायता नहीं पा सकता। थोड़े-से उसके टुकड़ेखोर साम्राज्य सेवी नौकर भी तब तक युद्ध कर सकते हैं, जब तक प्रसेनजीत उनके सामने धन बिछाता रहेगा; पर ज्योंही धन मिलना बन्द हुआ, वे अपने रक्त की धारा से प्रसेनजीत के साम्राज्य को कभी न सींचेंगे।"

"इधर महाराज विक्रम की बाट जोहते पचास लक्ष स्वयंसेवक सैनिक खड़े हैं जो आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करेंगे और साधारण शान्ति काल में साम्राज्य के अन्तर्गत अव्यवस्था के समय, जन-धन शक्ति द्वारा प्रजा को सहायता पहुँचा कर सभी का समर्थन प्राप्त किये रहेंगे।"

राजकुमारी योजना को तत्काल कार्यान्वित करने का आदेश देकर अपने स्थान पर जा बैठी। महाराज विक्रम ने मधुर व्यङ्ग में कहा—"महान राजेश्री ! तुम जिस महान दायित्व को उठाने की प्रेरणा दे रही हो, संभव है, उसके परिणाम स्वरूप बेटी की तलवार बाप की गर्दन पर चमक उठे।"

मुसकुराते हुए राजेश्री बोली—"परवाह नहीं, महाराज ! लाखों और करोड़ों की रक्षा करते समय, यदि एकाध बार ऐसा हिन्सामय वातावरण उपस्थित भी हो, तो वह अपवाद मात्र होगा।"

तत्पश्चात् शान्ति और सन्तोष के साथ समिति का कार्य समाप्त हो गया। योजना कार्यान्वित करने का भार महाराज विक्रम पर डाला गया। उन्होंने अपने सहयोगियों को अलग-अलग आदेश एवं कार्य भार दे कर योजना को सफलीभूत बनाने की दृष्टि से स्वयं भी शिविर परित्याग कर गिरि-गुफाओं के रहस्य मय गर्भ में अज्ञात वास करना प्रारंभ किया।

× × × ×

विक्रम को शिविर से गये लगभग तीन मास व्यतीत हो चुके थे। बीच में केवल एक पत्र प्राप्त हुआ था, उसमें लौटने की अवधि अनिश्चित-

सी थी। हाँ, शिविर के प्रबन्ध विषयक पर्याप्त आदेश थे। राजेश्री शिविर की सर्वेसर्वा थी; किन्तु प्रबन्ध विषयक सारा भार द्युमत्सेन पर डाल कर अपने आप निश्चिन्त रहती थी।

प्रायः महान् राजेश्री के सहवास में द्युमत्सेन की बहन राजकुमारी शशिप्रभा रहा करती थी। अनेक दास दासियाँ भी थीं, किन्तु शशिप्रभा पर राजेश्री का स्नेह दिनों दिन बढ़ता ही गया और इन्हीं तीन महीनों की अवधि में शशिप्रभा, राजेश्री की प्राणप्यारी बन गयी।

यद्यपि शशिप्रभा का भाई द्युमत्सेन स्वयं एक राजकुमार था; किन्तु विपत्ति के दिनों में विक्रम का अङ्ग रक्षक बनकर उसकी नीच से नीच टहल करने में भी वह न हिचका था। यही कारण था कि पद-च्युत सम्राट् विक्रम अपनी अवनति के दिनों में भी द्युमत्सेन की गोद पर निःशङ्क सिर रख कर सोता था। धीरे-धीरे जब विक्रम ने अपनी मनः स्थिति को सुधार कर संगठन प्रारम्भ किया, तब द्युमत्सेन की सेवा, बिनम्रता एवं प्रेम की शक्ति से और प्रभावित हुआ और इसी लिए द्युमत्सेन को अपना दाहिना एवं प्रमुख अङ्ग रक्षक स्वीकार किया।

द्युमत्सेन ने सम्पूर्ण हृदय के आदर एवं श्रद्धा को समेट कर विक्रम के चरणों में न्यौछावर कर दिया। उसे विक्रम के आदेशों को सेवक की भाँति पालन करने में भी किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं हुआ।

जब द्युमत्सेन इस प्रकार विक्रम के साथ मारा-मारा फिर रहा था, तभी उसके पिता काशीराज मलयसेन का स्वर्गबास हो गया। माता का निधन बाल्यावस्था में ही हो चुका था; अतएव अपने राज्य-शासन का भार विश्वस्त मंत्री पर डाल कर, अपनी बहन शशिप्रभा को साथ ले, बिक्रम के पास पुनः वापस लौट आया।

शशिप्रभा को अपने ही साथ रखने का एक और कारण यह भी था कि उसके पिता काशिराज मलयसेन ने अपनी मृत्यु के कुछ ही पूर्व यह उद्गार प्रकट किया था कि शशिप्रभा उनके जीवन की अमूल्य-निधि थी। उन्होंने कहा था—"मंत्रियों। राजकुमार द्युमत्सेन से कहना कि वह मेरी धरोहर को प्राणों से भी अधिक प्यार करे।"

इसी कारण से द्युमत्सेन अपनी बहिन को नेत्र की पुतलियों की भाँति प्यार करते थे और सदैव अपनी देखभाल में रखते थे।

शशिप्रभा किशोरावस्था पार कर यौवन की देहरी में पाँव रख ही रही थी; किन्तु अधिक वयस्क न होने पर भी, आपत्ति काल ही में शिक्षा-दीक्षा दी गयी थी। वह अन्य प्रदेश में प्रकृति की गोद में हिल-मिल कर भी विद्या एवं विनय में सम्पूर्ण थी। उसकी वाणी में सङ्गीत, दृष्टि में उत्सुक प्रेम एवं जीवन की गति में चिन्तनीय गंभीरता थी। वह अल्हड़ होकर भी व्यवहार-दक्ष थी। महाराज विक्रम स्वयं उसके उपदेशक एवं संरक्षक थे और वह उनकी विनम्र शिष्या बनकर, ज्ञानार्जन द्वारा परिपक्व बुद्धि की बन चुकी थी। अस्तु,

एक दिन की बात है। स्नानागार में राजेश्री और शशिप्रभा दोनों स्नान कर रही थीं। हँसी करते हुए राजेश्री ने कहा—"शशि! इस चाँद से मुखड़े का जादू किस पर चलायेगी?"

बालसुलभ चपलता के साथ हँसते हुए शशिप्रभा बोली—"ओहो, महान् राजेश्री। इस बन में तो चाँद उतर आया है। भला किसको पड़ी हैं; जो तारिकाओं की झिलमिलाहट पर रीझे!"

"ओ शशि! सच बता! कभी तूने अपने अनुपम सौन्दर्य को अनुराग रञ्जित दृष्टि से देखा है?"

और आप ही बताइये मेरी सरकार! कि इस वन्य-प्रदेश में स्वर्ग की अप्सरा-सी उतर कर अपने मायापाश से कितनों को आबद्ध किया और कितनों की पलकों में बस कर उनके जीवन में अभाव का विष घोला?

किसी के भी नहीं!—

झूठ, सरासर झूठ!

अच्छा, तो तुम न मानों।

मैं मानूं कैसे? अभी उसी दिन भैय्या राजा और मालव नरेश के बीच आपके सम्बन्ध में बातें हो रही थीं। मैं सब जानती हूँ।

क्या जानती है? मुसकुराते हुए राजे श्री बोली।

मैं न कहूँगी, आप अप्रसन्न होंगी।

तुझे मेरी सौगन्ध ! सच सच बोल !!

आपका विवाह होने वाला है।

कब, किसके साथ ?

प्रजातंत्र की घोषणा के बाद, महाराज विक्रम के साथ।

लज्जा की एक गुलाबी परत महान राजेश्री के मुख मण्डल पर छा गयी। पानी की बूँदे, भींगी अलकों से टप टप चू कर राजेश्री के अनुरञ्जित कपोलों पर मोती की तरह लुढ़कने लगीं। अपने दोनों कर कमलों से पानी को उछालते हुए राजेश्री बोली—

ज्ञात होता है, शशि ! तू भी सपनों की दुनियां में रहती है।

अच्छा ! तभी तो मैं आप से कुछ न कहती थी।

धुत पगली कहीं की ! अब यदि भविष्य में कभी ऐसा कहा—

तो क्या होगा, महारानी जी ?

राजेश्री ने अपने बाहु पाश में खींच कर शशिप्रभा को जकड़ लिया और चूमते हुए बोली—तुझे किसी के हाथ बेच दूँगी।

मैं बिकने को तत्पर तो हूँ, पर एक बात प्रश्नवाचक है।

वह क्या ?

यही कि, देवलोक की उर्वशी को भुवन मोहिनी माया बिखेरने से क्या सरोकार ? बहुत था कि उर्वशी इन्द्र को ही आकर्षित किये रहती·······। अपने दीपायमान सौन्दर्य की प्रखर ज्योति से चर-अचर को विस्मय विमुग्ध करने वाली मोहिनी न प्रकाशित करती।

शशि ! तू तो कवि बन गयी है। मैं कुछ भी नहीं समझ पाती। हाँ, एक बात है। तू एक भोली भाली राजकुमारी से भी कुछ विशेष है।

किन्तु आपका भोलापन मुझसे भी अधिक है। आप मेरी बातों को समझ नहीं पातीं। महान् राजे श्री ! आप संभवतः यह भी नहीं जानती कि महाराज विक्रम के अतिरिक्त अन्य सभी, इस वन्य भूमि में विचरण करने वाली रूप-गर्विता सुन्दरी के दर्शन से धन्य हैं। क्यों रूप-वारुणी पिला-पिला कर आपने सब को बेहोश कर रक्खा है।

आप मुझे माने या न माने किन्तु मैं आपको सचमुच बहुत भोली भाली मानती थी, किन्तु मेरा आश्चर्य तब से बढ़ गया है, जब मैंने बड़े २ लोक नायकों को आपके प्रति भ्रमर गीत गाते सुना।

बस हुआ शशि प्रभा! तू मेरी सुन्दरता के गीत न गा। मैं स्वयं तेरी घुँघुराली अलकों और खिली हुई चाँदनी जैसी रूप-गरिमा की शुभ्रता पर मुग्ध हूँ। तू वन बाला है। बेचारे अल्हड़ पुरुषों को तूने मदीली तकन से घायल और बेहोश किया है। बला तो, ऐसे कितने हृदयों पर तूने घाव किये हैं।

एक भी नहीं—निःसङ्कोच हसते हुए शशि प्रभा बोली।

"क्यों री झूठी" राजे श्री ने कहा—"उस दिन जब तू आम्र वृक्ष पर बैठी खिलखिला रही थी, तब तुझे वन्य-पुष्पों की मार से कौन मार रहा था? बता न! किसका सहारा लेती हुई तू वृक्ष से उतरी थी। और कौन तेरे मूंगे जैसे लाल होठों को चूम कर भाग निकला था? तू समझती है कि तेरे प्रेम-रहस्यों का किसी को ज्ञान नहीं, किन्तु मैं पहाड़ी के पार्श्व में बैठी यह आँख मिचौनी देख रही थी। जब तू उसे पकड़ने के लिए दौड़ी, तब पाँव में शूल चुभ जाने के कारण वहीं बैठ गयी। क्यों? तब मालव नरेश ने तेरे पाँव का कांटा निकाला था और तू उन्हीं का सहारा ले कर चलने लगी थी। शशि प्रभा! तेरे अभिसार के एक दृश्य को तो मैं स्वयं देख चुकी हूँ!

शशिप्रभा कुछ शङ्कित और कुछ लज्जित दृष्टि से बोली—महाने राजे श्री! उस समय उनके सिवा मेरी सहायता के लिए कोई था ही नहीं। इसी लिए विवश होकर उन्हीं की ओर ताकना पड़ा।

और इसी लिए श्रम के विनिमय में तूने चुम्बन का दान दिया, क्यों?'

शशिप्रभा नीची दृष्टि करके खिलखिला पड़ी और राजे श्री पर पानी उलीचते हुए बोली—आप न जाने, मन ही मन क्या-क्या गढ़ लेती हैं।

खूब, शशिप्रभा! भगवान करें जोड़ी जुग जुग जिये।

और यही प्रार्थना मेरी भी है।

राजे श्री मुसकुराती हुई एक ओर जा कर गीले वस्त्र उतारने लगी। भावनाओं के उधेड़ बुन में उसने कितनी ही अतीत स्मृतियों को चल-चित्र की भाँति मानस दृष्टि में पलटना प्रारम्भ किया।

राजे श्री की आन्तरिक अभिव्यक्तियां जैसे स्थल विशेष पर आकर क्षण भर के लिए रुक गयीं। पुनः सहसा हृदय के अन्तराल में एक तूफान गरज उठा—"आह! बीते दिन बिछुड़े साथी! तुम्हारा नयनाभिराम पवित्र सौन्दर्य चर्म चक्षुओं से ओझल हो कर कहां चला गया? अतीत स्मृतियों की भग्नावशेष समाधि केवल जीवन की विषमयी कसक बन कर, आज भी हृदय के परत में छिपी पड़ी है।"

राजे श्री जैसे जीवन के प्रथम मोड़ पर एक बार पुनः खड़ी थी, जहां से मुड़ कर वह दूसरे मोड़ पर घूम गयी थी। प्रथम मोड़ था, प्रद्युम्न का सहज आकर्षण एवं समर्पण मय प्रेम, जिसे ठुकरा कर और अपनी सौन्दर्य-दीप्ति के इर्द गिर्द कई जलने वाले पतङ्गों की प्रेम लालसा को भस्म कर, वह राज राजेश्वर्य के भोगों पर लालायित हुई थी, जहां उसने विक्रम के समक्ष आत्म-समर्पण किया था।

राजे श्री जीवन की इस असम्बद्धता की स्वयं उत्तरदायिनी थी। एक ओर विकल प्रद्युम्न आंखों में आंसू भरे, राजे श्री के समक्ष आकुल अभ्यर्थना द्वारा जैसे पूछता था—"राजे श्री! तुम्हें मैं स्वप्न समझूँ, माया मानूं या अपने मोहित जीवन की विडम्बना?" अथवा, उद्गार भरे आसुओं की धारा को रोक कर वह बोला था—"अनुरागमयी बीणा फूकनेवाली मोहक भीलनी!"

राजे श्री सोचने लगी कि उस समय वह चपलोल्लास प्रकट करते हुए कैसे कह सकी थी—"प्रद्युम्न! हमारा तुम्हारा मिलन केवल बाल क्रीड़ाओं के लिए हुआ था। यह तुम्हारी भूल थी कि तुमने अपने जीवन की सारी ममता सिमेट कर मुझ पर केन्द्रित कर दी। तुम्हीं बोलो, कभी राह चलते भिखारी की झोली में राजलक्ष्मी का प्रेम-दान रखने योग्य हो सकेगा?"

जैसे प्रद्युम्न मेरे उत्तर से अवाक् था। उसकी दृष्टि में अथ से इति

तक सर्वत्र निराशा छायी हुई थी। अन्तरिक्ष से लेकर पेड़, पत्ते, प्रासाद, झोपड़ियाँ, धरती और आसमान सब कुछ घूम रहे थे। वह निर्निमेष दृष्टि से मुझ मायाविनी की ओर कातरता से देख रहा था। मैं निर्मम-सी उसके प्रेम-पीड़ा पर मुसकुरा रही थी।'

राजे श्री वस्त्र बदल कर हेम प्रभा से बोली—मैं चलती हूँ, तुम आ जाना। मुझे एक आवश्यक कार्य याद आ गया।

वह अस्त व्यस्त मन से पुनः सोचती हुई शिविर में आ कर लेट गयी। तब हाँ, वह पुनः सोचने लगी—प्रद्युम्न अपनी शुष्क दृष्टि से एक बार मुझे देख कर बोला था—"राजे श्री! मैं जाता हूँ। अब फिर तुम्हारी दृष्टि के सम्मुख मैं कभी न आऊँगा। जाता हूँ, जीवन भर अपनी भूल का प्रायश्चित करूँगा। तुम्हें छोड़ कर जाते हुए मैं सब कुछ छोड़े जा रहा हूँ। मैंने जाना, किसी को प्रेम करना अपनी आत्मा को धोका देना है। प्रेम मीठा जहर है। प्रेम की विभूति के अन्तर में आत्म त्याग की चिता धधक रही है। उसी ज्वाला में अपना अस्तित्व निःशेष करता है। प्रेम जीवन का महगा सौदा है। उसमें आत्म विनिमय है किन्तु बदले में प्रेम—चिन्तन के अतिरिक्त कुछ भी ग्राह्य नहीं। मैं तुम्हें प्राप्त नहीं कर सका; किन्तु अधिकार पूर्वक तुम्हें कोई प्राप्त न कर सकेगा। तुममें छलना है, तुम मूर्तिमती माया हो। जो तुम्हें प्रेम पाश में आबद्ध करना चाहेगा, वह स्वयं फँसेगा, किन्तु जो तुम्हे ठुकरायेगा, उसके तुम चरण-रज चूमोगी।"

"लो, मैं चला, तुम राज राजेश्वरी बन कर सम्राटों का हृदय-हार बनना। मैं मृग-नैनी त्याग कर मृग-चर्म स्वीकार करता हूँ, किन्तु, याद रहे राजे श्री! जिस पीड़ा में निमग्न हो कर तुम से विमुख हो कर जा रहा हूँ, कहीं वह फूलों के काँटे की तरह तुम्हारे हृदय में न खटके। सत्य तो यह है कि प्रेम की अलख ज्योति में लक्षित मानव धर्म समाप्त है।'

राजे श्री आँसुओं की धारा में अपने मानको विगलित होते देख, एक बार फूट फूट कर रो पड़ी। उसके स्मृति-पट पर जीवन के वे अतीत चित्र उभर उठे। उसे ऐसा भान हुआ मानों प्रद्युम्न अभी २ उसकी दृष्टि से

ओझल हो रहा है। वह पूर्व की भाँति आज भी निरपेक्षित भावना से दृढ़ न थी। मानिनी का मान प्रद्युम्न के जाने के साथ ही ढह चुका था।

राजे श्री को विक्रम प्रेम-पथ के दूसरे मोड़ पर खड़ा मिलन था, ठीक तभी, जब प्रद्युम्न की स्मृति उसकी महत्वाकांक्षाओं की ओट में छिप चुकी थी। विक्रम कभी भी राजे श्री का संगी साथी न था, वरन्, वह सम्राट था। अनेक राज कन्याएँ उसकी सौन्दर्य-दीप्ति पर जल मरने को पतङ्ग की भाँति आकुल दौड़ी बढ़ी आ रही थीं। एक प्रकार से रूप और यौवन की प्रतियोगिता में राजे श्री भी बाजी मार ले जाना चाहती थी। इसी हेतु उसने प्रद्युम्न को निराश किया था, इसी हेतु वह विक्रम के काम-विनिन्दक रूप-श्री पर तितली की भाँति मड़रा रही थी।

इसी समय राजे श्री का पिता प्रसेन जीत, जो, विक्रम का वैदेशिक सचिव था, षड़यंत्रों द्वारा विक्रम का शासन हथिया कर सम्राट बन बैठा था, तब राजे श्री 'महान् राजे श्री' के नाम से विभूषित हो कर विक्रम की सत्ता की एक मात्र अनन्य उत्तराधिकारिणी बन बैठी। अब विक्रम सम्राट न था, किन्तु राजे श्री सम्राट की पुत्री थी। विक्रम के दुःसाहसी शौर्य की कथाओं ने राजे श्री को चञ्चल कर दिया। वह विक्रम को प्राप्त करने की धुन में पिता-पक्ष को ठुकरा कर इतना आगे बढ़ आयी; किन्तु विक्रम राजे श्री के इस समर्पण का मूल्याङ्कन उतना न कर सका, जितना प्रद्युम्न केवल राजे श्री के साथ रह कर करता था।

हाय री विषमता! एक सर्वस्व त्याग कर कुछ नहीं प्राप्त कर पाता और दूसरा सर्वस्व प्राप्त कर अंश मात्र भी नहीं स्वीकार करता। प्रद्युम्न! विक्रम !!

राजे श्री शिविर में पड़े-पड़े मुख ढांप कर रोने लगी। उसकी दृष्टि में बिदा मांगते हुए प्रद्युम्न का पीला चेहरा गड़-सा रहा था। वह फफकियाँ भर कर धीमे स्फुट शब्दों में कह बैठती थी—"प्रद्युम्न! तुम तो मुझसे दूर गये पर मेरे हेतु यह कौन-सी सौगात छोड़ कर गये? क्या सचमुच, जीवन में तुम्हारा पावन दर्शन सुलभ न होगा? मैं साम्राज्ञी बनूँगी भी, किन्तु तुम्हें क्या? तुम तो कहीं मेरे शासन-प्रदेश से दूर छिप कर रहोगे।

देशों की साम्राज्ञी बन कर भी तुम्हारी कुछ न बन सकूँगी। आह! तुम कितने निर्दय बन बैठे।"

"मैं समझती थी कि विक्रम के लिए प्रति पल विद्विग्न हूँ, पर मैंने यह आज जाना कि तुम हृदय के किसी गुप्त ब्यूह में छिप कर मुझे तरसा रहे हो। संभवतः आगे आने वाले दिनों में बड़ी बड़ी बूँदों में रुलाने वाले हो।"

"मेरा विवाह होने वाला है, प्रजातंत्र की घोषणा के बाद? किसके साथ? सम्राट विक्रम के। विक्रम कौन? मेरे आत्मसमर्पण पर इतराने वाला, मेरे पिता का शत्रु, मेरा सर्वस्व! आज जब वह सम्राट-पद से च्युत है, तब उसे मेरी ओर अधिक दृष्टिपात् करने का अवकाश नहीं। कल जब प्रजातंत्र हो जावेगा, तब वह कैसे सम्राट् होगा? मैं साम्राज्ञी कैसे बनूँगी? फिर विक्रम तो पूर्ववत् रहस्यमय है। माना, उसने कुछेक आश्वासन दिये हैं, पर वे आश्वासन केवल पुरस्कार मात्र हैं। क्या पता, किन पुरस्कारों द्वारा मैं विभूषित की जाऊँ। साथ देने वाले और कष्ट सहिष्णु जीवन व्यतीत करने वाले दास के प्रति भी उदारता का व्यवहार किया जाता है। फिर विक्रम जो मेरे समक्ष कभी प्रेम-कातर होते हुए नहीं पाया गया, कैसे अपने आत्म-स्वरूप से विचलित होगा? माना, मेरी रूप-राशि के सम्मुख बड़े-बड़े राजाओं के किरीट झुके हुए हैं, किन्तु उनसे हमें क्या लेना। मेरा लक्ष तो विक्रम है, किन्तु विक्रम का लक्ष............???"

जब राजे श्री इस अन्तर्द्वन्द्व में पड़ी शिविर में करवटें बदल रही थी, तभी शशिप्रभा स्नानादि के पश्चात् पुनः उसके पास पहुँची और सोल्लास पुकार उठी—"महान् राजे श्री! सपनों की नींद न सोइए। महाराज विक्रम, मालव नरेश के साथ वापस लौट आये हैं। घोड़े से उतरते ही उन्होंने आदेश किया है कि दोपहर पश्चात् वे आपके शिविर में पधारेंगे। स्वागत की तैयारी कीजिए न!

"क्या सच," शाल के अन्दर ही अपने आसुओं को पोछती हुई अपने मनोभावों को छिपा कर राजे श्री बोली—देख शशि, मैं तेरी शिकायतें मालवनरेश से करूँगी।

तनिक रूढ़ कर शशिप्रभा बोली—अच्छा लीजिए मैं जाती हूँ आप तो अच्छी सूचना देने पर भी गालियाँ सुनाती हैं।

ओ हो शशि ! तेरे इन्हीं नखरों ने मालव नरेश के गले में फाँसी डाली है। नहीं तो मालव नरेश जैसे वीर और युद्ध प्रिय व्यक्ति भला, रमणी की रमणीयता को क्या जानते।

शशि प्रभा दौड़ कर राजे श्री के गले से झूल गयी—देखिये आज मैं महाराज विक्रम से आपकी चुगुली करूँगी—वह बोली तो जा अभी, क्या कहेगी ?

कहूँगी कि महान राजे श्री मुझे अपने गले से झूलने नहीं देती।

शशिप्रभा खिलखिला कर हँस पड़ी। राजे श्री भी इस हास-परिहास में अपनी पूर्व व्यथा को भूलती हुई बोली—तू सदैव गर्दन में झूल कर पीड़ा पैदा कर देती है शशि।

क्या करूँ तो मैं ? मुझे आपका मृदुल स्पर्श इतना सुखद लगता है कि मेरी इच्छा आपके हृदय से लिपटे रहने की बनी रहती है।

राजे श्री मुसकुरा पड़ी। वह बोली—अच्छा, एक काम करो शशि ! दासियों को बुला कर उनकी मदद से मेरा शिविर सजा डालो यदि महाराज सचमुच ही पधारे तो उनका स्वागत करूँगी।

शशि प्रभा आज्ञाकारिणी की भाँति इस कार्य में जुट गयी और थोड़े समय में शिविर की अस्तव्यस्तता को मिटा कर कोने कोने सजा दिया।

दोपहर के पश्चात् राजे श्री को सूचना मिली कि महाराज विक्रम उसके शिविर में पधार रहे हैं, राजे श्री स्वागत साज सजा कर शिविर द्वार पर खड़ी हो गयी। इतने दिनों शिविर में एकाकी रहने के पश्चात् राजे श्री के लिए प्रथम अवसर था कि विक्रम अपनी उपस्थिति और अनुपस्थिति के पश्चात् राजे श्री के शिविर में स्वयं चल कर मिलने आ रहा था।

विक्रम के सामने आते ही राजे श्री ने उसके भाल में कुङ्कुम का टीका लगाया और आरती उतार कर उसके वक्षस्थल को सुगन्धमय पुष्पहारों से आच्छादित कर दिया और फिर मृदुल हास्य के साथ बोली—महाराज ! आपका शुभ स्वागत है।

भद्रे, महान् राजे श्री ! मैं आपको सादर अभिवादन करता हूँ।

कुशल प्रश्न के पश्चात् द्युमत्सेन, मालव नरेश एवं अन्य सैनिक नायकों के साथ विक्रम ने राजे श्री के शिविर में प्रवेश किया।

बैठते ही विक्रम ने कहा—राजे श्री ! कार्य विशेष के कारण हम सब तुम्हारे समीप आये हैं। निश्चित सूचना है कि सम्राट् मगधाधिपति प्रजातंत्रवादियों को कुचलने के लिए ससैन्य प्रस्थान कर चुके हैं। उनकी विजयवाहिनी सेना अरावली के चारों ओर घेरा डाल रही है। अभी उनके साथ चालिस लक्ष सैनिक हैं। इसके अतिरिक्त साम्राज्य के चारों ओर से आधीनस्थ नरेश, अपर सामन्त वर्ग एवं अन्य साम्राज्यवादी मित्र राष्ट्र अपनी अपनी सेनाएँ अलग से भेजने का सन्देश भेज चुके हैं। सम्राट की सेना हमारे शिविर से केवल सौ मील की दूरी पर है। कहिए हिन्सक युद्ध के टालने की क्या योजना है।

राजे श्री ने विक्रम को क्षण भर आपाद मस्तक देखा और तब बोली—क्या आपने इसकी कोई सूचना मुझे आज से पूर्व दी ? मुझे नहीं ज्ञात कि शिविर से अनुपस्थित रहने की दशा में आपने क्या-क्या किया। मैं युद्‌ध की बात सुन कर स्तब्ध हूँ। क्या मेरी योजना कार्यान्वित की गयी ?

अवश्य राजे श्री ! योजना की सफलता पर आपकी बधाई है। हमने कई वर्षों तक युद्ध चलाते रहने के लिए धन-जन का संग्रह कर लिया है। हमारे दल ने राज-कोष को बुरी तरह लूटा है। किसान वर्ग ने भूमि कर देने में असमर्थता प्रकट की है। साम्राज्य-विरोधी भावना किसानों और श्रमिकों के अतुल प्रयास स्वरूप कोने कोने से गरज रही है। प्रजा का सहयोग सम्राट खो चुके हैं किन्तु इन समस्त सफलताओं के फल-स्वरूप सम्राट की क्रोधाग्नि बुरी तरह भड़क चुकी है। उन्होंने अपने सैनिकों को आदेश दिया है कि जिन गावों और कस्बों में प्रजावादियों की एकता स्थापित हो चुकी हो, वे गाँव कस्बे, एवं नगर जला दिये जायँ। पैदावार एवं धन लूट कर सैनिक संरक्षण में ले लिये जांय। प्रजावादियों को मौत के घाट उतारा जाय।

परिणामतः चारों ओर मार काट एवं लूट पाट का विभत्स दृश्य दिखलायी पड़ रहा है। जिस मार्ग से सम्राट की सेना आ रही है, उसके चारों ओर मौत का सन्नाटा छा गया है। बस्तियाँ वीरान हो चुकी हैं। प्रजा अपना जन-धन-माल-मवेशी खो कर दाने दाने की तलाश में मारी घूम रही है। थोड़े में चारों ओर सर्वनाश का ताण्डव नृत्य हो रहा है।

राजकुमारी! अब मैं अहिन्सा का प्रयोग करने में अपने आपको असमर्थ पाता हूँ। पचास लक्ष सैनिक मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हैं। पशु बल एवं दानवीयता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी है। यदि तुम आज्ञा दो तो मैं सम्राट की सेना का दमन करूँ। अब अधिक विलम्ब करना अनुचित होगा।

विक्रम राजे श्री के प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में चुप हो गया। समस्त उपस्थित व्यक्ति राजे श्री का मुह ताकने लगे। राजे श्री सब कुछ सुन कर पाषाण की भाँति शून्य हो गयी।

बड़ी देर तक सोचने के पश्चात् राजकुमारी ने शान्ति भङ्ग की। वह बोली—महाराज! हिन्सा का समर्थन मैं कैसे करूँ। इस नर-मेध यज्ञ में करोड़ों की बलि दे कर हमें जिस अभीष्ट का वरदान प्राप्त करना है, वह प्रजातंत्र की स्थापना है किन्तु शक्ति की होड़ाहोड़ी में जिस भाँति निरपराध प्रजा का रक्त बहाया जावेगा, उसका उपभोक्ता कौन ठहरेगा? शायद वे बचे खुचे वीर सैनिक जो अन्त में विजयी होंगे और वास्तविक प्रजा तो अपना सर्वनाश करके मृत्यु की तरल तरङ्गों में बह कर अनन्त में समाधिस्थ हो जावेगी? क्या यह पैशाचिक युद्ध आज भी नहीं टाला जा सकता?

नहीं, राजे श्री? संभावित प्रयत्नों की इति श्री हो चुकी है।

क्या एक बार मुझे सम्राट प्रसेनजीत से भेंट करने की अनुमति दी जा सकती है?

क्षमा कीजिए राजकुमारी! इसके लिए बहुत विलम्ब हो चुका है।

नकारात्मक उत्तर देकर विक्रम कुछ सोचने लगे। बीचही में मालव नरेश राजे श्री को सम्बोधित करते हुए बोले—

महान् राजकुमारी ! इस भयानक युद्ध के इतने शीघ्र विस्फोट होने के अनेक कारणों में से एक कारण स्वयं आप भी हैं ।

राजकुमारी कुछ अप्रतिभ-सी होकर बोली—मैं आपका यथार्थ आशय नहीं समझी ।

बात यह है—मुझे क्षमा कीजियेगा—कि विग्रह के अनेक कारणों में प्रायः एक आधारभूत कारण लक्ष्मी, भूमि, एवं रमणी रत्न हैं। जब से आपने महाराज विक्रम पर अपनी कृपा दृष्टि प्रदर्शित की, तब से सम्राट प्रसेनजीत के सहायक नरेशों ने उनकी मनः स्थिति को खोद-खोद कर उभाड़ना प्रारंभ किया। वास्तविक कारण उन नरेशों और उमरावों की स्वयं लोलुप वृत्तियाँ थीं जो आपको प्राप्त करने के लिए सम्राट प्रसेनजीत की कृपादृष्टि और सान्निध्य चाहती थीं । आपके अपूर्व रूप-लावण्य के सभी भिखारी थे इसी लिए अनेक नरेशों ने प्रसेनजीत के प्रीत्यर्थ अपनी सेना एवं धन राशि देकर सम्राट विक्रक के सहवास से आपको निकाल लेना ही अपना परम धर्म माना। कथित युद्ध में लक्ष्मी, भूमि एवं रमणी रत्न प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता एक रहस्य है जो एक पक्ष में साम्राज्य वादी एवं सामन्तवादी मनोवृत्तियों वाले नायकों की लिप्सा को उभाड़ कर दूसरे पक्षके प्रजा राज्य समर्थकों को बलि चाहती है अतएव सम्राट के पास आपका जाना दो कारणों से नितान्त अनुचित है प्रथम यह कि आप प्रजातंत्र पक्ष को ग्रहण कर हम लोगों की सैनिक शक्तियों से भली भाँति परिचित हैं। आपको अपने अधिकार में पाकर वे अनेक जानने वाली बातों का भेद प्राप्त कर लेंगे ।

द्वितीय जब कि सम्राट ने युद्ध का अन्तिम निर्णय कर डाला है तब वह आपकी अहिन्सा से कुछ भी प्रभावित न होंगे ।

राजे श्री विह्वल होकर बोल उठी—आह ! मुझे क्या पता था कि मैं भुवन मोहिनी हूँ । मेरे हेतु देवासुर संग्राम उठ खड़ा होगा। धिक्कार है मेरे इस सौन्दर्य पर और धिक्कार उन सबकी सौन्दर्य लिप्सा पर ! ओह ! मैं अपने कानों से यह क्या सुन रही हूँ। मैं करोड़ों निरीह प्राणियों के निर्दय हत्या का एक कारण हूँ ?

विक्रम बात टालते हुए बोला—राजकुमारी मुझे तुम्हारा शीघ्र निर्णय चाहिए—सोचने और पछतावा करने का अधिक समय नहीं।

तन कर राजे श्री बोली—मैं हिन्सक युद्ध को प्राणपण से टालने की चेष्टा करूंगी—मैं स्वयं रणभूमि में अपना बलिदान दूँगी—मैं इस युद्ध को टालने के लिए सैन्य-संचालन करूँगी।

राजे श्री की बातों की असंगतियां विक्रम के सहायकों को उलझन में डाल रही थीं अतः विक्रम ने अपने इधर उधर चारों ओर देखा—कुछ दूर पर अरण्यक एक सन्दूकची लिए खड़ा था।

विक्रम का इशारा पाकर वह सामने आया। विक्रम ने सन्दूकची खोल कर सबके सामने एक मानचित्र खोल कर रख दिया और मार्ग बतलाते हुए बोला—महान् राजे श्री! मगध का राज सिंहासन इस समय पूर्ण रूप से खाली है। अधिक से अधिक पांच सात लक्ष सैनिक वहाँ पर होंगे इस लिये तुम अपने साथ बीस लक्ष सैन्य लेकर प्रस्थान करो और बिना एक बिन्दु-रक्त बहाये राजधानी पर प्रजातंत्र का अधिकार स्थापित करो—मैं ऐसे मार्ग का निर्देश कर रहा हूँ जहाँ से चल कर तुम्हें सम्राट की सेना का सामना न करना पड़े। रह गये हम और सम्राट प्रसेनजीत। जो होगा, सो होगा। हमारी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, तुम्हारी सहायता के लिए द्युमत्सेन जांयगे जो यदि विजय हुई तो पुनः वापस लौट आवेंगे। तब तक मैं घेरा डाल कर तुम्हारे आदेश की प्रतीक्षा करूँगा और शक्ति भर हिन्सक युद्ध को रण-नीति के द्वारा टालूंगा।

राजे श्री का कुछ बोझ हलका हो गया। वह शान्ति की श्वास लेती हुई बोली—मुझे यहाँ से कब रवाना होना चाहिए?

आज ही।

राजे श्री ने इशारे से शशिप्रभा को बुलाया और भोजन की थालों को वहीं शिविर में मगाया। क्षणभर में ही शशिप्रभा ने दास दासियों की मदद से सब की आतिथ्य सेवा करनी प्रारंभ की। अनेक भावनाओं और विचारों में क्षुब्ध विक्रम ने अपने सहयोगियों के साथ भोजन समाप्त किया। द्युमत्सेन उठ कर प्रस्थान की तैयारियां करने लगा।

तनिक स्नेह प्रदर्शन के बाद विक्रम उठ कर खड़े हो गये। सबने राजकुमारी के प्रति सम्मान प्रकट किया। विक्रम बोले—महान राजे श्री—बिदा! पता नहीं कितने समय के लिए।

चलते-चलते विक्रम ने एक हार राजकुमारी को पहिना दिया। राजेश्री और विक्रम ने एक दूसरे पर हृदय की भाषा को दृष्टि से प्रकट कर जैसे कुछ कहा और सुना और नेत्रों के कोर को भिंगो कर वे एक अनिश्चित काल के लिए विलग हो गये।

× × ×

महा राजे श्री अपने साथ बीस लक्ष सशस्त्र सैनिकों को लिए एक बीर सेनापति की भाँति मगध के राज सिंहासन को हस्तगत करने के लिए बढी जा रही थी। उसके साथ अनेक राजनीतिज्ञ धुरन्धर सैन्य-विशारद सेनानी एवं अनेक चतुर मंत्री आदि थे। राजकुमारी की यात्रा तीन मास बराबर जारी थी। वह सामाज्य की राजधानी पाटलि पुत्रि से पचास मीलों की दूरी पर आ चुकी थी। मार्ग में वह जिस ओर से आयी थी, उस ओर से सम्राट प्रसेन जीत बहुत पहले आगे बढ़ चुका था। समस्त सैन्य के पीछे वह चुपचाप अपने साथ हेम प्रभा, द्युमत्सेन एवं कतिपम अन्य चतुर सरदारों को लिए घोड़े पर चली जा रही थी।

राजकुमारी के सम्मान एव सैनिक नियमों के कारण सभी मौन थे। यदि राजकुमारी किसी से कुछ पूछ बैठती, तो बात दूसरी थी अन्यथा सभी अपने अपने घोड़ों पर चुपचाप चल रहे थे। भावनाओं में भरी राजकुमारी जीवन के अनेक उत्थान-पतन के भावों पर मौन उपेक्षा प्रदर्शित करती हुई अपनी मातृभूमि के निकट चली जा रही थी। जीवन की अनेक मीठी एवं कटु स्मृतियाँ अन्तस्तल को झकझोर देती थी। सन सन करती हुई शून्य वायु कानों के पर्दों में कुछ कहती हुई बह रही थी। राजकुमारी बवण्डर और तूफान से भरी जिन्दगी की पीड़ा से कभी-कभी सिहर उठती थी। कभी-कभी मोह की एक पसली परत उसके अन्तस्तल में जम जाती। वह सोचती—जिस जीवन को फूलों की मृदुल सेज पर सोने की वरद भावना देकर विधि ने रचा, उसे राजकुमारी अपने आप शूलों की

कसक पर लिटा रही है। क्या जाने, किस सुख के लिए, किस अरमान से।

द्युमत्सेन राजे श्री के पार्श्व में कुछ पीछे हट कर आ रहा था। राजकुमारी ने द्युमत्सेन को सम्बोधित करते हुए कहा—

क्या सैनिक दूत अब तक वापस नहीं आये ?

नहीं महान् राजकुमारी, उनकी खोज में एक दूसरा दस्ता भेजा गया है किन्तु अन्य विश्वस्त सूचनाओं द्वारा ज्ञात हुआ है कि प्रथम कुमुक सम्राट की सेना द्वारा गिरफ्तार हो चुकी है। एक और दूसरे मार्ग द्वारा कुछ व्यक्ति नागरिक वेश भूषा द्वारा भेजे गये हैं, उनके भी वापस लौटने का कोई समाचार नहीं मिला।

राजकुमारी निश्चिन्तता पूर्वक बोली—द्युमत्सेन ! मुझे इधर की कोई चिन्ता नहीं—जब मैं सम्राट की सेना को अपने पीछे छोड़ कर सैकड़ों मील आगे बढ़ चुकी हूँ, तब विजय हमारे हाथ है मुझे चिन्ता है तो महाराज विक्रम और सम्राट की सेना की। किन्तु एक बात अवश्य है कि सम्राट को मेरे इधर आने की सूचना अवश्य मिल चुकी होगी क्योंकि उनके गुप्त दूतों का जाल देश के कौने-कौने में फैला हुआ है।

द्युमत्सेन उल्लास पूर्वक कह उठा—महान् राजकुमारी ! हम लोगों का इस ओर पयान करना अब तक सम्राट को संभवतः ज्ञात नहीं क्योंकि पूर्व दिशा की ओर आने में हमने चालाकी से काम लिया है। कम से कम एक सौ मील धुर दक्षिण की ओर चल कर तब हम लोग उत्तर पूर्व के कोन को ले कर आगें बढ़े हैं। सम्राट को भुलावे में डालने के लिए लगभग एक सहस्त्र व्यक्ति सम्राट की सेना के सामने से उत्तर की ओर बढ़े हैं जिनके द्वारा यह कहलाया जा चुका है कि गान्धार प्रदेश तक फैले हुए विस्तृत मोर्चे में सम्राट के पहुँचने की सूचना देने जा रहे थे। इधर बीच बीच में हमने फौजी कुमुक की कुछ ऐसी टुकड़ियाँ बिठला दी हैं जो इधर उधर से आने जाने वाले व्यक्तियों को वन्दी बना कर सम्राट की सेना और राजधानी दोनों से दूर रक्खें। साथ ही पाटलिपुत्रि की विश्वस्त सूचनाओं को अपने हित में प्रयोग करते हुए आवश्यक सूचनाएँ

महाराज विक्रम के पास भेजते जा रहे हैं। वास्तव में महाराज विक्रम ने तीन माह अनुपस्थित रह कर केवल यही कार्य किया है। सारी मोर्चेबन्दी की आवश्यक चौकियां महाराज के निर्णय पर ही स्थिर की गयी हैं। महान् राजकुमारी वर्षों जंगलों में भटकते रह कर महाराज ने पाटलिपुत्र को हस्तगत करने की रूप रेखा तैयार की है। सच पूछिये तो उनकी योग्यता इस विषय में भौगोलिक ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञों से भी बढ़ कर है। पग पग भूमि उनकी शोधी हुई है। आक्रमण करने का मान चित्र स्वयं महाराज के हस्त चातुरी एवं दूरदर्शिता का अद्भुत प्रमाण है। अरावली और पाटलिपुत्रि के बीच केवल एक ही मार्ग है किन्तु महाराज ने अपनी सैनिक योग्यताओं के कारण ऐसे मार्ग की खोज कर डाला कि यदि सम्राट की सेना एवं हमारा दल समानान्तर रेखा में एक दूसरे के विपक्ष चलता तब भी हम सरलता से मगध साम्राज्य की राजधानी में पहुँच गये होते।

राजकुमारी इतने दिनों पश्चात् समझ सकी कि क्यों वह वर्षों महाराज विक्रम के साथ जंगल पहाड़ की ठोकरें खा कर घूम रही थी। मन ही मन विक्रम की अथक कर्तव्य शक्ति पर प्रसन्न होती हुई राजकुमारी ने कहा—द्युमत्सेन ! सेनापतियों को आदेश दीजिए कि कल हमारी यात्रा समाप्त हो चुकेगी। इसलिए वे अपने समस्त सैन्य दलों को मोर्चेबन्दी करने की आवश्यक सूचना दे देवें। पाटलिपुत्र से केवल पचीस तीस मील की दूरी पर रह कर हमें अपनी विजय प्राप्त करने के लिए अग्रसर होना है।

जो आज्ञा—कह कर द्युमत्सेन प्रधान सेनापति को सूचना देने के लिए आगे बढ़ गये।

राजकुमारी ने पुकार कर अपने पार्श्व में हेमप्रभा को कर लिया और बोली—हेम ! तुम्हें इस यात्रा से क्या आनन्द होगा ?

हेम प्रभा बोली—महान् राजे श्री ! सुख दुख का प्रश्न मेरे लिए भी गौण हो चुका है। बाल्यावस्था पार करते ही क्रम क्रम से माता पिता के निधन का दृश्य नेत्रों के सामने देखा। इसके पश्चात् भ्राता की देख रेख

में लालन पालन हुआ, किन्तु भाई सा० ने भी अपने समस्त ऐश्वर्य पूर्ण सुखों पर लात मार कर सुनसान वनस्थली की गोद में दिन बिताना प्रारंभ किया। मैं उनके साथ रहते अनेक सुख दुखों के बीच, निर्मम बन कर जीवन व्यतीत करना सीख चुकी हूँ। भइया एवं महाराज का वात्सल्य प्रेम मेरे लिए सर्वस्व है। क्षत्री की कन्या हूँ इसलिए कठोर जीवन सम्पादन करते समय कोई चिन्ता नहीं।

राजकुमारी राजे श्री बोली—हेम प्रभा! समभुच क्या जाने हम सबके दिन कब फिरेंगे। आज महान आपत्तियों के बीच से हम सब गुजर रहे हैं, भविष्य न जाने और कितना भयानक हो।

राजे श्री विधि-विधान की निर्दयता पर हेम प्रभा से बातें करती हुई चलने लगी। कभी-कभी नेत्रों की कोर के छलकते हुए आसुओं को हेम प्रभा की दृष्टि से बचा कर राजे श्री शून्य में आहें भरती और कभी वह प्रकट वेदना से तिलमिला कर कह बैठती—हेम! कोई मेरे भीतर से कहता है कि अभी दुख के पारावार में हमें और निमग्न होना है। मेरी अन्तर्दृष्टि के अथ से इति तक करुण का महान सागर हिलोरें मार रहा है। उसकी प्रबल आघातमयी तरङ्गे जैसे अपने कठोर-घोर गर्जन के साथ शून्य में विलीन होने जा रही हैं और जैसे, सन्देश देते हुए कह रही हैं कि राजे श्री! भूल न जाना। तुम्हें मेरी ही भाँति अशान्त हो कर जीवन पथ पर अहर्निशि दौड़ते रहना है। न कहीं विराम है, न कहीं शान्ति! उफ, हेम! कलप कलप कर जीवन के ये उद्‌गारपूर्ण क्षण कैसे समाप्त होंगे?

हेम प्रभा कुछ निराश स्वर में बोली—मैं क्या बताऊँ, महान राजकुमारी! मैं तो अभी इस जीवन के रहस्यों को समझ भी नहीं सकी। मैंने तो आप ही लोगों से बड़े बड़े बोल सुने किन्तु जब आप भी वेदनाओं के असह्य आघात से विकल हो उठती हैं तब मेरी दृष्टि में प्रगाढ़ अन्धकार के सिवा कुछ नहीं दीख पड़ता। मैं विचार करती हूँ कि भावी रणचन्डी के निर्दय ताण्डव नृत्य में हम लोग न जाने एक दूसरे से कितने दूर हो जायँगे। अमीर उमरावों, सामन्तों और राजाओं की सत्ता निःशेष होते ही स्वतंत्र प्रजातंत्र के सम्मुख हमें आदर्श प्रजा राज्य स्थापित करने में अनेक

मुसीबतों को पुनः झेलना पड़ेगा; किन्तु यह भी तभी संभव है जब विजय श्री हमारे पक्ष में हुई। इन अनेक उलझनों को साध्य बनाने में संभवतः हम लोगों का जीवन निःशेष हो जाये या संभवतः हम कुछ न कर पावें तभी हमारा अस्तित्व तिरोहित हो चले।

राजे श्री बोली—यदि तुम स्वीकार करो तो तुम्हें निरापद स्थान में भेजवाने का मैं प्रबन्ध कर दूँ।

विकल हो कर हेम प्रभा ने उत्तर दिया—नहीं महान राजे श्री! आप सब को छोड़ कर मैं एक क्षण भी जीवित न रह सकूँगी। जो सब का होगा, वही मैं भी झेलूँगी। अकेले मेरे प्राणों का मूल्य अधिक महगा नहीं है।

तुम्हें निरापद स्थान में रखने का मेरा एक विशेष प्रयोजन है, हेम प्रभा! मैं उसे अभी प्रकट नहीं करना चाहती। हाँ, प्रत्यक्ष कारण तो केवल इतना ही है कि युद्ध की विभीषिका से तुम बची रह सकोगी—

मुझे आप लोगों के दर्शन बिना एक क्षण बिताना भी दूभर हो जायगा। अभी आप की सेवा में मेरे दिन हँसते खेलते व्यतीत हो रहे हैं।

राजे श्री मौन हो गयी। द्युमत्सेन कई घण्टे पश्चात लौट कर आ गये और राजे श्री को अभिवादन करते हुए बोले—महान् राजकुमारी! आपके आदेश विभिन्न सेनापतियों के पास प्रधान सेनापति ने भेज दिया है। लगभग कल सन्ध्या समय तक हमारी यात्रा सम्पूर्ण हो चुकेगी और मोर्चेबन्दी प्रारम्भ कर दी जायगी।

बहुत ठीक—कह कर राजकुमारी शान्त हो गयी। उस दिन सन्ध्या आते देख यात्रा स्थगित कर दी गयी। सैनिक विश्राम के लिए उपयुक्त स्थान चुन चुन कर पड़ाव डालने लगे।

× × × ×

अर्धरात्रि समाप्त हो चुकी थी। नक्षत्रों की झिलमिलाहट से सारा आकाश पथ टिमटिमा रहा था। राजे श्री के सैनिक शिविर में चारों ओर शान्ति छाई हुई थी। कभी २ घोड़ों के हींसने की आवाज से क्षण भर

लिए नीरवता भंग हो जाती थी। किन्तु क्षण भर बाद वही सूनसान का सन्नाटा छा जाता था। कभी कभी पहरेदारों की पद-ध्वनि से इधर उधर आहट होने लगती थी किन्तु निशीथिनी की अविरल मौन भाषा में कोई विशेष अन्तर न पड़ता था।

राजकुमारी राजे श्री करवटें बदलते हुई कभी कभी अपनी शय्या पर उठ कर बैठ जाती थी। उसके नेत्रों की नींद, थकावट के होते हुए भी खोसी गयी थी। वह विचार एवं भावना के द्वन्द्व में पिस रही थी। उसके मन में आशा निराशामयी अनेक दुरूह एवं जटिल कल्पनाओं का जाल-सा बिछा हुआ था। वह मकड़ी की भाँति अपनी ही भावनाओं के जाल में पड़ी छटपटा रही थी।

वह सोचती—कल प्रभात होते ही उसकी आज्ञा की बाट जोहते हुए बीस लक्ष सैनिक उसी की मातृभूमि में रक्त की धारा बहाने को उद्यत रहेंगे। यह सब क्यों होगा? केवल दो शक्तिशालियों की सत्ता की प्रबलता को स्थापित रखने के लिए। दोनों शक्तियाँ अपने अपने पक्ष को न्यायपूर्ण जान कर एक दूसरे के रक्त से मेदिनी को रंग देंगी। इस पैशाचिकता के विभत्स कुकृत्य में पापों का बोझ सिर पर उठा कर मुझे भी नाचना पड़ेगा। जय और पराजय चाहे कुछ भी हो, किन्तु निरीह हत्या के पापों से मैं बच न सकूँगी। स्वर्ग के दूत भी आ कर मुझे पाप गर्त में गिरने से रोक न सकेंगे। इस यशस्वी विजय श्री के लिए अनन्त जन्मान्तरों के पुण्य क्षीण हो जायेंगे। कोई परम शक्ति उसे ऐसा करने से रोक न सकेगी?

किन्तु........किन्तु........जो आततायी हैं, जो दूसरों की हत्या करते हुए ही जीवन धारण किये रहे हैं, जो आपाद मस्तक जोर जुल्म की बेलौसी में डूबे हुए हैं, जिन्होंने पवित्र बस्तियों की सुख समृद्धि एवं शान्ति को अपने इस विलास एवं मनोरंजन की पूर्ति के लिए लूट लिया है, जिन्होंने अपनी अट्टालिकाओं को विभूपित करने के लिए झोपड़ियों में आग लगा दी है और जिनकी ऐश्वर्य लिप्सा के कारण, गमज़दे मनुष्यों को तन ढकने के लिए चिरकुटे और पेट भरने के लिए सूखी-बासी रोटियां

भी नसीब नहीं हैं, उनको निःस्वत्व कर देना क्या पाप है ? क्या उनके ऐशो इशरत के लिए इकट्ठा की हुई सामग्री को मुफलिसों के बीच वितरित कर देना अन्याय हो सकता है ? क्या वे किसी भी अर्थ में समानता और न्याय की हत्या करते हुए जीवित रहने के अधिकारी हैं ?

राजकुमारी अपनी शय्या से उठ कर टहलने लगी—मन ही मन वह पुनः बोली—ओह ! आज की रात्रि मेरे लिए कितनी भयानक है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न कितना जटिल ? महानता की चादर ओढ़ कर मैंने अपने लिए विनाश की चिता सुलगा ली है । मुझे अपनी ही आग में अपने को भस्म करना है । हाय री अवशते !!!

एकाएक राजकुमारी की वृत्तियाँ और भी भड़क उठीं—उसने मन से पूछा—मैं तो नारी हूँ, अपार शक्तिशालिनी हूँ । जब सर्वनाश मुँह बाये खड़ा है तब क्यों न मैं अपनी प्रत्येक शक्तियों से काम लूँ ? माया और छल भी तो हमारी आत्म-रक्षा का सुदृढ़ कवच है । मेरी माया में मोहन मंत्र है । क्यों न उसी के सहारे विपक्षियों के पराजय का कौशल रचूं ?

उस एकान्त रजनी में राजे श्री के नेत्र प्रसन्नता से चमक उठे—वह स्फुट शब्दों में बुदबुदा उठी—हिंसा तो मेरा अन्तिम अस्त्र होगा । प्रथम मैं पिता के विश्वस्त प्रधान मंत्री सुधन्वा पर अपना अस्त्र चलाती हूँ । वह मेरी छलना पूर्ण माया देवी का वलिपशु बनेगा ।

राजे श्री उठ कर चुपचाप अपने मेज के पास पहुँची और लेखनी उठा कर पत्र लिखने लगीः—

प्रियतम !

पाटलिपुत्रि से बिछुड़ने के दिन के पश्चात् आज प्रथम बार मैं अपने हृदय की पीड़ा और भेद को प्रकट करने में समर्थ हुई हूँ । तीन वर्षों के लम्बे-लम्बे दिन किस आत्म-पीड़ा और मनस्ताप की समाधि में गड़ कर व्यतीत हुए हैं, इसे मेरे नन्हें हृदय के सिवा और कोई नहीं जानता । क्षण-प्रतिक्षण शत्रु के वश में रह कर अनिच्छित कपट प्रेम प्रदर्शित करते हुए मैंने अपने अन्तर की समस्त प्रेम-भावनाओं को जैसे राक्षसी बन कर कुचल डाला; किन्तु करती क्या ? विक्रम की गूढ़ दृष्टि से हिलोरते हुए हृदय

की कसकमयी पीड़ा को, छिपाना मेरे लिए एक असंभव कार्य था जिसे पूरा कर मैं, सचमुच, विजयिनी बन बैठी हूँ।

मैं अपने पिता के साम्राज्य की और सब से बढ़ कर अपने निर्णय प्रेम देवता के सुखद स्नेह का शत्रु बन कर ही उस असंभव को संभव कर सकी हूँ जिसे पाटलिपुत्रि में रहते हुए मैं कभी पूरा न कर पाती।

जीवनधन! मेरे एकान्त कक्ष की वे अनुराग भरी बातें शायद तुम आज भी न भूले होगे, जब तुमने कहा था कि इस सत्ता और सम्पत्ति को त्याग कर हम दोनों एक अलग दुनिया बसायें जहाँ सम्राट प्रसेनजीत की रोष भरी दृष्टि हम दोनों को विदग्ध न कर सके किन्तु मेरा प्रत्युतर था कि सम्राट पुत्री सम्राट को ही अपने प्रेम का अमर देवता चुनेगी। तुम डर कर या मेरी ओर से रूखा प्रत्युतर पाकर सहम गये थे। शायद उस दिन से तुम मुझ पर अपना प्रेम प्रदर्शन करना भी भूल गये, किन्तु मैं रहस्यमयी नारी होने के कारण, प्रणय के इस एकान्त आह्वान को अपने अन्तराल में छिपा कर तुम्हें सम्राट बनाने की योजना में लग गयी।

तुम्हें आगे की बातें ज्ञात ही हैं कि किस भाँति मैंने पिता की सत्ता के विरुद्ध षड़यंत्र करना प्रारंभ किया और उनके जीवन और साम्राज्य के सब से बड़े शत्रु भूत सम्राट विक्रम से एकता स्थापित की और क्रमशः उनकी विश्वासपात्र बन कर उनके दल की प्रमुख बन बैठी। आज स्थिति यहां तक पहुँच चुकी है कि मेरी इच्छा के कारण ही दो सत्ताधारियों में प्रगाढ़ युद्ध प्रारंभ होने वाला है और मैं स्वयं बीस लक्ष सेना का अपने हाथ में नेतृत्व प्राप्त कर अपनी ही जन्मभूमि में चढ़ आयी हूँ और बीस लक्ष ही क्या मेरी भृकुटि-विलास से सैकड़ों लक्ष व्यक्ति मेदिनी को रक्त धारा से रंग सकते हैं किन्तु मैं तुम्हारे प्रेम की याचना कर रही हूँ, निरीह प्रजा के रक्त के नहीं।

यह मैं जानती हूँ कि हिंसक युद्ध लड़ कर भी अन्तिम विजय हमारी ही है, प्रजातंत्र की जीत होने पर भी विजय श्री हमें ही संवरण करेगी और या पिताजी की जीत हुई तब साम्राज्य हमारा है किन्तु खूनी युद्ध के

पश्चात् अशान्त वातावरण में हमारी वर्षों की लालित पालित प्रेम-बेलि मुरझा जायगी इसलिए क्या ही अच्छा होता, यदि तुम बिना हिंसक युद्ध के कुछ समय के लिए हमारी जीत स्वीकार करते !

प्राण-सनेही ! ऐसा करते समय तुम्हें लोक-दृष्टि में अपनी पराजय स्वीकार कर हमारे दल का बन्दी बनना पड़ेगा और तुम्हारी छत्र छाया में शासन-प्रबन्ध करने वाले समस्त प्रमुख नीति विशारदों को भी बन्दी बनना होगा। आत्म-समर्पण की खुली चिट्ठी अलग से सम्राट की सत्ता में भेजी जा रही है किन्तु उसका जवाब तुम्हें मेरे पत्र पर पूर्णरूप से विचार करके देना है। यदि मेरी इच्छा के विरुद्ध तुमने शस्त्रास्त्रों द्वारा युद्ध का परिणाम स्वीकार किया तो कम से कम साम्राज्य के साथ तुम्हें भी महान नाश को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा किन्तु यदि तुमने मेरी शर्तों को स्वीकार कर लिया तो मैं संयुक्त सैन्य एवं बिपुल जन-धन शक्ति द्वारा कौशलपूर्वक पिता जी को मदद पहुंचा कर विक्रम को सर्वदा के लिए मिटा दूंगी। फिर साम्राज्य समर्थकों को विक्रम के भय से अशान्त और उद्विग्न रहने की आवश्यकता न रह जायगी।

मैं आक्रमण की अवधि को तीन दिवसों के लिए पिछेड़ रही हूँ तुम अपने सैन्य-विशारदों से सन्धि की इच्छा प्रकट कर अपने निश्चय को शीघ्र भेजना। साथ ही पत्र वाहक एक उच्च वंशीय कुलाङ्गना हैं उनके सम्मान का पूर्ण विचार करते हुए उन्हें सुरक्षा पूर्वक मेरे शिविर में भेजना और मेरे भेजे हुए पत्र को पढ़ने के साथ ही अग्नि को समर्पण कर देना। यदि उक्त पत्र के भेद की बात हमारे या तुम्हारे दल के अन्य किसी व्यक्ति ने जान पाया, तो तुम्हें सम्राट और मुझे विक्रम का विश्वास खो कर मृत्यु दण्ड स्वीकार करना पड़ेगा।

आशा है, तुम हमारी कामना को पल्लवित और फली-फूली बनाने में पूर्व-अनुरागी की भाँति अपने सर्वस्व को मेरे-हेतु समर्पण किये रहोगे। मैं सब कुछ करते हुए केवल एक आशा की किरण से अपने को प्रकाशित किये हूँ कि आपदाओं के टलते ही सुरभिमयी समीर के मादक झोकों में किसी शुभ दिन प्रणय देवता से एकान्तिक साक्षात्कार करूँगी। यदि

पिताजी ने स्वीकार किया तो उनके सम्मुख ही हम दोनों वर-वधू की पवित्र प्रतिज्ञा से दीक्षित हो कर भावी जीवन को अनुराग और समर्पण से ओत-प्रोत कर लेंगे अथवा पिता जी ने वंश परम्परा की अड़चने डालीं तो उन्हें भी.........

तुम्हारी
महान राजे श्री

पत्र समाप्त करते ही उसे सील मुहर से बन्द कर राजे श्री ने हेमप्रभा को जगाया और उसे सब भेद बतला कर अंधेरे मुह ही द्युमत्सेन को बुलवाया। जब वे दोनों आ कर एकत्रित हुए, तब राजकुमारी ने द्युमत्सेन से राजकुमारी हेमप्रभा को अपनी दूती के रूप में पाटलिपुत्रि भेजने की योजना बतलायी। द्युमत्सेन ने तनिक विरोध करते हुए कहा—क्या यह कार्य किसी पुरुष द्वारा नहीं कराया जा सकता ?

नहीं, दूयुमत्सेन ! स्त्री के गुप्त भेद की दूती बनना स्त्री के लिए ही अधिक उपयुक्त है। साथ ही राजदूत या दूतियों के साथ कभी कोई अशोभन व्यवहार करने की क्षमता नहीं रख सकता। दूसरे इतनी बड़ी विपत्ति को टालने और भेद के छिपाये रखने की योग्यता मुझे अन्य किसी में दिखलायी नहीं पड़ती। तुम हिचक न करो। यदि हेमप्रभा के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया गया, तो मैं धर्म और नीति को तिलाञ्जलि देकर पाटलिपुत्रि की एक-एक को राख में मिला दूंगी ।

हेमप्रभा के साथ एक लक्ष सैनिक प्रस्थान करेंगे जो पाटलिपुत्री से केवल पन्द्रह मील दूर रह कर सन्धि-योजना को सफल बनाने में तत्पर रहेंगे। इस लक्ष सेना का प्रधान मैं तुम्हें नियुक्त करती हूँ । हेमप्रभा के लौटते ही, यदि कार्य की असफलता पायी गयी, तो तुम बिना किसी हिचकिचाहट के पाटलिपुत्रि पर चढ़ दौड़ना।

द्युमत्सेन ने राजकुमारीकी आज्ञा को स्वीकार किया । युद्ध का आक्रमण तीन दिवसों के लिए स्थगित कर दिया गया।

द्युमत्सेन ने प्रधान सेनापति को राजकुमारी का आदेश बतलाया और मोर्चेबन्दी को दृढ़ बनाने का कार्य-क्रम प्रधान पर ही डाल दिया गया।

ऊषा का दर्शन होते ही द्युमत्सेन एक लक्ष सेना के साथ बढ़ चला और

राजकुमारी हेमप्रभा एक सहस्त्र सुसज्जित सैनिक अश्वारिहियों के साथ सम्राट प्रसेनजीत के प्रधान मंत्री सुधन्वा से मिलने के लिए पाटलिपुत्रि की ओर रवाना हुई।

× × ×

सम्राट प्रसेन जीत ससैन्य अरावली की पहाड़ियों में घेरा डाले पड़े हुए थे। कभी-कभी महाराज विक्रम की सेना के छोटे-छोटे दस्तों से छुटपुटे झगड़े और आक्रमण हो जाया करते थे किन्तु जम कर युद्ध करने की लाग-बाग ठीक न लगती थी। महाराज विक्रम राजे श्री की विजय बाट जोहते हुए आक्रमणात्मक युद्ध न करते थे। उन्हें केवल रक्षात्मक युद्ध द्वारा अपने को बचाये रखना पड़ता था।

किन्तु सम्राट प्रसेन जीत और महाराज विक्रम की स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर होता जाता था। महाराज विक्रम केवल उत्तर या थोड़ा बहुत उत्तर पूर्व के कोने में प्रसेनजीत की सेना द्वारा घिरे हुए थे किन्तु दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर पूर्व के कुछ हिस्से में पूर्णतः स्वतंत्र थे। जब कभी प्रसेन जीत की सेना का दबाव उन पर अधिक बढ़ जाता तब वे उक्त दिशाओं की पहाड़ी भूमि में चारों ओर सैन्य फैला कर अपनी आत्म-रक्षा करते रहते थे। उनके सहायकों का बहुत बड़ा प्रभाव भी इन्हीं दिशाओं में था जहाँ से वे रोक-टोक धन-जन एकत्रित होता रहता था।

इसके विपरीत सम्राट की राजधानी से रसद या मदद के लिए जो सामग्री भेजी जाती थी, उसका विशेष भाग राजे श्री द्वारा छिन जाता था। बचा खुचा सामान सम्राट की मदद के लिए यदि किसी प्रकार पहुँच भी पाता तो उसी पर अधिकार करने के लिए विक्रम और प्रसेनजीत की सेनाओं में मुठभेड़ होती। परिणामतः प्रसेनजीत की संग्रहीत खाद्य एवं युद्ध सामग्री दिनों-दिन कम होती जा रही थी और विक्रम लूट पाट, प्रजा एवं मित्रों की सहायता द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करता जाता था।

प्रसेन जीत को अपनी राजधानी छोड़े लगभग आठ माह से भी अधिक व्यतीत हो चुके थे। थोड़ी बहुत सहायता उत्तर दिशा से प्राप्त होती जा रही थी किन्तु राजधानी की सहायता क्रमशः घटती जा रही

थी। प्रसेनजीत चिन्तित था। कभी-कभी उसके हृदय में धारणा घर करने लगती—कहीं प्रधान मंत्री सुधन्वा विश्वासघात तो न कर बैठेगा ? यह सोचते ही उसका हृदय बैठ जाता। वह अपने आप ही कह बैठता—मैंने भी तो विक्रम को पराजित करते समय विश्वासघात को ही अपनाया था। कहीं मेरा मंत्री मेरी ही नीति को तो न अपनायेगा ?

दिन व्यतीत होते जा रहे थे। प्रसेनजीत के विजय की कामना व्यङ्ग बनती जा रही थी। वह छोटे-छोटे गुप्तचरों के दस्ते एक के बाद दूसरा भेज रहा था पर राजधानी से लौट कर वे एक भी न आते थे। जो सूचना उसे मिलती, वह सुधन्वा के भेजे हुए दूतों द्वारा मिलती। वह आश्चर्य मग्न रहता। साथ देने वाले अधीनस्थ राजा राव तन-मन धन से प्रसेन जीत की सहायता करते पर प्रसेन जीत अपने घर की पर्याप्त मदद न पाकर विचलित रहता था।

एक दिन उसके विश्वस्त गुप्तचरों में से एक ने लौट कर बतलाया कि महाराज ! स्थिति भयानक है। राजधानी द्वारा भेजी हुई सामग्री महान राजकुमारी राजे श्री द्वारा छीनी जा रही है क्योंकि वह बीस लक्ष सैनिक लेकर पाटलिपुत्रि के चारों ओर घेरा डाले पड़ी है। यह भी ज्ञात हुआ है कि वह हिंसक युद्ध का समर्थक नहीं हैं। प्रधान मन्त्री सुधन्वा एवं महान राजे श्री के बीच गुप्त पत्र व्यवहार हो रहा है। पता नहीं, वे किस निश्चय में पहुँचे हैं। राजे श्री का हमला राजधानी पर कब हो जाय, कोई निश्चय नहीं है मेरी उपस्थिति के समय राजे श्री का हमला शीघ्र ही होने वाला था किन्तु प्रधान मंत्री ने राजकुमारी से युद्ध को कुछ समय तक टाले रखने की प्रार्थना की है। सब से प्रथम राजदूती के रूप में राजकुमारी हेमप्रभा नाम की कोई राजकन्या पाटलिपुत्रि के समीप सहस्र अश्वारोहियों के साथ पहुँची थी। प्रधान सेनापति ने बंदी बनाना चाहा था किन्तु जब सुधन्वा को ज्ञात हुआ कि राजदूती के रूप में हेमप्रभा पधारी हैं तब उनका स्वागत आदर-पूर्वक किया गया और राजमहल में गुप्त मंत्रणाओं के पश्चात् तीसरे दिन वह वापस लौट आयीं। इसके

पश्चात् प्रधान मंत्री ने भी अपना दूत उनके पास भेजा था। अब पता नहीं स्थिति क्या हो ?

प्रसेनजीत इन समस्त सूचनाओं को सुन कर विशेष उद्विग्न हो उठा। दूत ने पुनः कहा—युद्ध को रोक रखने की समस्त चेष्टा महान् राजकुमारी राजे श्री द्वारा की जा रही है यही कारण है कि महाराज विक्रम अब तक युद्ध-रत नहीं हुए हैं।

प्रसेनजीत सब समाचार प्राप्त कर दूत को आज्ञा देते हुए बोला—तुम इन्हीं पावों वापस लौट जाओ और प्रधान मंत्री सुधन्वा एवं राजे श्री के बीच होने वाली सन्धि-वार्ता का सम्पूर्ण रहस्य मेरे पास भेजते रहना साथ ही प्रधान मंत्री से कहना कि वे राजधानी पर होने वाले आक्रमण को साम, दाम, दण्ड एवं भेद की नीति ग्रहण कर रोक रक्खें और यदि संभव हो तो राजे श्री को अपनी ओर मिला कर बाकी सेना हमारी मदद के लिए भेज दें तो मोर्चों के निरन्तर आक्रमण से विक्रम को जीतने में बड़ी ही सुगमता प्राप्त होगी।

इसके पश्चात् सम्राट ने एक गुप्तपत्र दूत के हाथ में देते हुए कहा—मुझे सुधन्वा के पत्र की शीघ्र आवश्यकता है। तुम यथासंभव आज ही रवाना हो जाओ।

दूत को रवाना करने के पश्चात् सम्राट ने समस्त मित्र नरेशों एवं प्रधान सेनापतियों को बुला कर सारी कथा कह सुनायी और बोला—यदि राजधानी पर राजे श्री का आक्रमण हुआ तो केवल दस लक्ष सेना किस प्रकार राज श्री के बीस लक्ष सेना का सामना करेगी। दूसरे यदि राजे श्री ने पाटलिपुत्रि पर प्रजातंत्रवादियों का झण्डा फहरा दिया तो राजे श्री के विजय के साथ ही हमारी पराजय हमारे नेत्रों के सामने खड़ी हो जायगी। इधर बिक्रम पर भरपूर शक्ति से आक्रमण करने का कोई सुयोग प्राप्त नहीं हो रहा है। उधर यदि राजे श्री ने—जैसा कि वह अब भी कुछ अंशों में कर रही है—राजधानी से आने वाली सहायता को सम्पूर्णतः रोक दिया तब साम्राज्य की पूर्व दिशा से मिलने वाली सम्पूर्ण सहायता बन्द हो जावेगी। पश्चिम और दक्षिण की सहायता का द्वार

विक्रम ने बन्द कर रक्खा है इसलिए मेरा अन्तिम निश्चय यथा शीघ्र विक्रम को पराजित कर राजधानी की ओर वापस लौटने का है। यदि उधर राजधानी पर राजे श्री का अधिकार जम गया और इधर विक्रम भी पराजित न हो सका तब दोनों संयुक्त शक्ति द्वारा समस्त साम्राज्य को छिन्न भिन्न करके प्रजातंत्र की स्थापना कर डालेंगे और नरेशों एवं अमीर उमरावों को अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ नाश हो जाना पड़ेगा।

सम्राट् प्रसेनजीत की इन बातों को सुन कर प्रधान सेनापति एवं अन्य नरेश मित्रों ने घन्टों विचार-विमर्श करने के बाद यही निर्णय किया कि युद्ध का मोर्चा और सुदृढ़ बना कर विक्रम पर एक साथ प्रहार किया जाय। यदि छुट-पुट हमले होते रहे और समय अधिक बीत गया तो अनेक विपत्तियों में पड़ कर, अपने आप ही आत्म समर्पण करना पड़ेगा किन्तु एक बार राजधानी की सूचना प्राप्त करना आवश्यक है।

सम्राट् की आज्ञा प्राप्त कर गुप्त दूत भेजने का आदेश किया गया और सम्मति से प्रबल आक्रमणात्मक युद्ध करने की निश्चय सम्मति भी प्रदान कर दी गयी।

इधर महाराज विक्रम अपने सैनिक शिविर में मालव एवं नरेश मित्रों तथा सेनापतियों के साथ बैठे विचार-विमर्श कर रहे थे। महाराज विक्रम युद्ध की आवश्यक सूचनाएँ भी सब को बतलाते जा रहे थे। उनका कहना था कि राजधानी पाटलिपुत्रि पर महान राजे श्री द्वारा चली गयी एक कूटनीतिक चाल के परिणाम स्वरूप सुधन्वा एवं उसके अन्य सहयोगी मंत्रियों को झुकना पड़ा है। पाटलिपुत्रि के प्रधान मंत्री सुधन्वा के बीच पत्र-व्यवहार चल रहा है। सुधन्वा भी हिंसक युद्ध द्वारा सिवा क्षति के कोई उत्तम परिणाम नहीं देख रहा। विश्वस्त समाचार यह है कि सुधन्वा ने संयुक्त मंत्रिमण्डल को युद्ध से विमुख होने के निष्कर्ष पर प्रस्ताव प्राप्त करने के लिए बुलाया है और राजकुमारी शशिप्रभा से व्यक्तिगत भेंट में सुधन्वा ने स्वीकार कर लिया है कि वे सब राजे श्री के विरुद्ध अस्त्र न उठावेंगे। उन्होंने राजकुमारी शशिप्रभा के हाथ जो पत्र

महान राजे श्री के लिए भेजा है, वह कतिपय कारणों से गुप्त रखा गया है किन्तु राजकुमारी ने मेरी जानकारी के लिए पत्र ज्यों का त्यों भेज दिया है। पत्र की भाषा से ज्ञात होता है कि सुधन्वा महान् राजे श्री के सामने स्वयं आत्मसमर्पण कर चुके हैं। सचमुच यह हमारी जीत है।

मालव नरेश ने सेनापतियों के समक्ष युद्ध भूमि के विस्तृत विवरण मय मोर्चेबन्दी का प्रकाश करते हुए बतलाया कि अभी तक हमारा उद्देश्य रक्षात्मक युद्ध करने का था। हमने सम्राट प्रसेन जीत के पास पत्र भेज कर जानना चाहा है कि क्या वे हिन्सात्मक युद्ध को त्याग कर हमसे सन्धि करना स्वीकार करेंगे और प्रजातंत्रवादी झण्डे के नीचे खड़े होकर साम्राज्यवादी शासन-परम्परा को सदैव के लिए दफना देंगे ?

प्रत्युत्तर में उन्होंने जो पत्र भेजा है वह अहमियत एवं हिंसक भावनाओं से भरा पड़ा है। उनका अन्तिम निश्चय है कि प्रजातंत्र के नाम के पीछे अनेक विद्रोही शासकों की शैतानियत उनकी सत्ता को मिटाने का जो अथक परिश्रम कर रही है उसके परिणाम स्वरूप वह भी विद्रोहियों को कुचल डालने को प्रतिज्ञा बद्ध है। वे शत्रु के सम्मुख झुकना या आत्मसमर्पण करना स्वीकार नहीं करते।

सेनापति ने कहा—"हम अपने प्रधान महाराज विक्रम एवं राजे श्री की आज्ञा की बाट जोह रहे हैं। आज्ञा पाते ही शत्रु का मान मथन करने में हमें देर नहीं लग सकती।"

नरेश मित्रों ने कहा—"युद्धाकांक्षी शत्रु के सम्मुख बार-बार अहिंसा की दुहाई लगाना अशोभन है। यदि सम्राट प्रसेनजीत हिंसक युद्ध के अभिलाषी हैं तो अवश्य हमें उनकी इच्छा-पूर्ति करनी चाहिए।"

तत्पश्चात् महाराज विक्रम ने अन्तिम निर्णय यह किया कि जब तक हम हिंसक युद्ध के लिए विवश न हो जायंगे, तब तक हम युद्ध कदापि न करेंगे, क्योंकि, राजे श्री की इच्छा के विपरित चलना उसके नेतृत्व को अस्वीकार करने के समान होगा। दूसरे यदि सम्राट् के सिंहासन पर राजे श्री ने अधिकार कर लिया तब तो संभवतः स्वयं राजे श्री ही कोई योजना पेश करेगी। महान् राजे श्री के पत्र से प्रतिध्वनित होता है कि वे

पाटलिपुत्रि पर अधिकार प्राप्त करते ही यद्ध के सम्बन्ध में कोई नया आदेश पत्र जारी करेंगी।

इसी प्रकार, अनेक तर्क वितर्कों के पश्चात् युद्ध काल कुछ समय के लिए और पिछेड़ दिया गया और मान्य सेनापति वर्ग अपने अपने मोर्चों की रक्षा पंक्ति सुदृढ़ करने के उद्देश्यों से शिविर छोड़ कर मोर्चा-स्थलों में जा पहुँचे।

× × ×

राज कुमारी शशिप्रभा पाटालिपुत्र जाकर लौट आयी थी उसने महान राजे श्री की राज-दूती बनकर बड़ी चतुरतापूर्वक प्रधान मंत्री सुधन्वा को राजे श्री के ध्यान में आमग्न करा दिया था। वर्षों की सोती हुई प्रणय-स्मृति जागृत हो उठी थी। शशि प्रभा महान् राजे श्री के दुखित एवं वियोग पीड़ित जीवन का जिसका आकर्षक वर्णन सुधन्वा के सम्मुख कर सकी, उसी के परिणाम स्वरूप हिंसक युद्ध न करने की प्रतिज्ञा भी सुधन्वा ने कर डाली। राजे श्री को प्राप्त करने की लालसा में, सुधन्वा के सम्मुख जय-पराजय का प्रश्न गौण था। वह अपने अन्तर की समस्त विजयेत्सु-कता कुचल कर महान् राजे श्री की लालसा में उतावला बन गया था। उसने समस्त मंत्रियों की संयुक्त बैठक में आत्म समर्पण का प्रस्ताव अस-फल होते देख, सामन्तों और उमरावों के नेत्रों में सर्वनाश का दृश्य उप-स्थित कराते हुए उन्हें अपनी ओर अन्त में मिला ही लिया। वे सब सर्व-नाश की विभीषिका से घबड़ा कर सम्मान पूर्वक राजे श्री से मिलने को उत्सुक हो उठे। राजे श्री की मांग थी कि या तो प्रधान मंत्री सम्राट् की सारी शक्ति हस्तान्तरित करे, अथवा, सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल पराजित हो कर युद्ध-वन्धी बनें।

मंत्रिमण्डल बिना सम्राट् प्रसेनजीत के अपने को किसी निश्चित निर्णय तक पहुँचा देने में असफल था। इधर विक्रम पर आक्रमण करने के हेतु पयान करते समय सम्पूर्ण अधिकार सुधन्वा को सौंपे जा चुके थे। किन्तु शशिप्रभा की जिस समय से गुप्त मंत्रणाएँ सुधन्वा के बीच में होने लगीं थी, तभी से मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्यों के हृदयों में अप्रकट

असन्तोष था। मंत्रिमण्डल के प्रत्येक सदस्य चाहता था कि महान् राजे श्री के पत्र पर खुले अधिवेशन में विचार किया जाय किन्तु सुधन्वा वह पत्र दिखलाने में असमर्थ था। द्वितीय, उस पत्र को सुधन्वा अपने पास रख भी कैसे सकता था जबकि राजे श्री ने उल्लिखित पत्र को पढ़ने के पश्चात् जला डालने का आग्रह किया था।

जब सुधन्वा संयुक्त मंत्रिमण्डल को स्वपक्ष में न कर सका तब राजे श्री की कई बातें उसकी दृष्टि में नाचने लगीं। वह सोचने लगा— "यदि सम्राट की बिजय हुई तब भी साम्राज्य और वैभव की एक मात्र उत्तराधिकारिणी महान् राजे श्री तो है ही, किन्तु परिस्थिति सम्राट की बिजय को असम्भव सी बना रही है। दूसरे, यदि प्रजातन्त्र की विजय होती है तब भी राजे श्री प्रजातंत्रवादियों की प्रमुख नेत्री है। अतः दूर-दर्शिता यही है कि जन-धन का नाश किसी भी मूल्य पर रुकना ही चाहिए क्योंकि इसमें सामूहिक हित के साथ २ मेरा व्यक्तिगत हित भी है अस्तु सुधन्वा ने सन्धि चर्चा समाप्त होने के पूर्व राजे श्री को आक्रमण के लिए आह्वान किया और स्वयं जाकर राजे श्री के सम्मुख आत्म- समर्पण कर दिया।

बस, फिर क्या था ? दूसरे दिन ही सुधन्वा को साथ लेकर राजेश्री पाटलिपुत्र पर चढ़ दौड़ी। इधर पाटलिपुत्र की सेना मोर्चाबन्दी को सुदृढ़ बनाने में लगी थी, उधर मंत्रियों और सेनापतियों में प्रधान पद के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए चर्चा चल रही थी। एकाएक राजे श्री के आक्रमण ने सारी चर्चाएँ अस्तव्यस्त कर दीं। सुधन्वा की स्वार्थ -लिप्सा एवं राजे श्री की सुसंगठित सेना ने विजय को बिना रक्त बहाये ही प्राप्त कर लिया।

पाटलिपुत्र पर किये गये आक्रमण को विचारहीन प्रसेनजीत के मंत्री न रोक सके। समय पर सेनापतियों को युद्ध करने का आदेश भी न मिल सका। सम्राट की सेना को चारों ओर से घेर कर, राजेश्री ने आत्म-समर्पण के लिए विवश कर दिया। सुधन्वा की सहायता से बड़े २ मंत्रियों एवं रण-नीतिज्ञों को बन्दी बनाने में कुछ भी देर न लगी। एक

प्रकार से बिना रक्तपात के ही पाटलिपुत्र पर राजे श्री का अधिकार हो गया। वह विजय-श्री के साथ सदल-बल सम्राट के राज-प्रासाद में घुसी। सर्व साधारण नागरिकों ने राजे श्री की विजय का हृदय से स्वागत किया। बिछुड़ी राजकुमारी के प्रेम ने प्रजा के सन्तप्त हृदय को शीतल कर दिया।

पाटलिपुत्र के विशाल राज-प्रासाद के वैभव पूर्ण शिखर पर प्रजातंत्र वादियों का झण्डा फहराने लगा। सेना, राज-कोप एवं प्रजा सभी राजे श्री के अधिकार में आ गये। बड़े २ सामन्तों एवं अमीर उमरावों को राजे श्री ने बन्दी बना लिया। शासन-सूत्र राजे श्री के हाथों ही रहा।

राजे श्री ने सुधन्वा को अपना परामर्शदायी मंत्री नियुक्त किया। सेना द्युमत्सेन एवं अन्य प्रजातंत्रबादियों के संरक्षण में कर दी गयी। इस अभूत पूर्व विजयका समाचार महाराज विक्रम के पास भेजा गया। राजकुमारी महान् राजे श्री ने हिंसा, अत्याचार एवं शक्ति-प्रदर्शन की मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए, सत्य, अहिन्सा एवं न्याय के आधार पर एक अस्थायी लोकतंत्रवादी सरकार पाटलिपुत्र में स्थापित कर दिया और कृषकों एवं शोपितों को उच्चवर्गीय जनता की भाँति आह्वान कर राजपदों में विभूषित कर दिया।

इस प्रकार राजे श्री ने केवल तीन चार मास के अनवरत परिश्रम के पश्चात् अनेक उदार एवं चतुर प्रजाप्रतिनिधियों से विचार-विमर्श के पश्चात् साम्राज्य के अन्तर्गत होने वाले समस्त हिंसक युद्धों को रोकने की योजना बना डाली और श्रेणी सङ्घर्ष को समाप्त करने की इच्छा से एक सलाहपूर्ण व्यक्तिगत पत्र सम्राट् प्रसेनजीत के पास भेजा।

ज्योंही राजे श्री का पत्र प्रसेनजीत को मिला, वह प्रजातंत्रवादियों की विजय सुन कर बौखला उठा। प्यार की पाली राजे श्री हार्दिक-सन्धि कामना ने प्रसेनजीत को तुफ़ानमयी तरङ्गों के आलोड़न की भाँति मानों पराजय के एकान्त तट पर फेंक दिया। प्रसेनजीत आरक्त नेत्रों से पागल की भाँति क्षण प्रतिक्षण विचलित होता हुआ स्वयं सेनापति के शिविर की ओर दौड़ा। और गरजते हुए बोला—"विषैले विक्रम ने साम्राज्य के

अङ्ग प्रत्यङ्ग में एक नयी व्यवस्था की सड़न पैदा कर के, साम्राज्य को निःशक्त एवं निष्प्राण कर दिया है। उसके हलाहल ओजद्वारा विजय श्री मरण की दूती बन कर पाटलिपुत्र को श्मशान की शान्ति में सुला चुकी है। अब हमें राजधानी से कोई सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। पाटलिपुत्र की गगनोपरि साम्राज्य पताका पतनोन्मुखी वायु के झकझोरों से छिन्न-भिन्न होकर राजे श्री की प्रजातंत्रीय विजय बाहिनी द्वारा पावों तले रौंदी जा चुकी है। साम्राज्य-प्रदीप की अन्तिम ज्योति बुझने ही वाली है। हम सब सदा के लिए स्तित्वहीन हो चुके हैं। सेनापति! पराजय की विभीषिकामयी वैतरिणी में डूबते उतराते रहने से अच्छा तो यह है कि मरण के साज सजा कर हम लोग सदा के लिए रण-नदी में निमग्न हो जांय"।

सेनापति सम्राट की विचलित मुद्रा पर कठोर शासन करते हुए वीर—दर्प के साथ बोल उठा—"तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, सम्राट! जय पराजय तो युद्ध के स्वाभाविक परिणाम हैं। विजय-श्री हमारी साम्राज्य-लिप्सा से रुष्ट हो चुकी है। उसकी वरद—जय मालाएँ विपक्षियों के गले में पड़ने वाली हैं। हमारे युद्धोन्मुख होने पर भी गरज-गरज कर हमारी अन्तरात्माएँ कहती रही हैं कि प्रबल लोक-मत हमारी सत्ता के विपक्ष में है इसलिए युद्ध में विजय-श्री हमें न संवरण करेगी किन्तु काल-प्रवाह को रोक सकने में असमर्थ होने के कारण मैंने युद्ध-सञ्चालन का भयानक कार्य स्वीकार किया।"

"सम्राट् शिविर की ओर पधारें। मैं आक्रमणात्मक युद्ध का आदेश विभिन्न यूथ-पतियों के पास भेज कर सेवा में उपस्थित होऊँगा, किन्तु हमारे पूज्य सम्राट........।"

प्रधान सेनापति कुछ कहते २ रुक गया। प्रसेनजीत मुड़कर बोला—"प्रधान क्या कहते हुए तुम रुक गये?"

—"मैं? सम्राट! अवश्य कुछ कहना चाहता था किन्तु कहने का साहस नहीं होता।"

—"कहो न, इस समय सङ्कोच करने से कैसे काम चलेगा? मैं तुम्हारे मूल्यवान सत्परामर्श को सङ्कोच के परदे में छिपाकर नहीं रखना

चाहता। समझें। युद्ध में विजय दिलाने वाले मेरे दाहिने हाथ के तुल्य तुम हो।"

बढ़ कर सेनापति बोला—"सम्राट! जब हम लोग पाटलिपुत्र से बढ़ कर अरावली की इन घाँटियों की ओर प्रजातंत्रवादियों का दमन करने आ रहे थे, तब हमारा मत था कि शत्रु-दल चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो किन्तु सामूहिक शक्ति के प्रतिरोध करने की क्षमता उनमें कभी न होगी किन्तु हमारा अनुमान सर्वथा असत्य निकला। यद्यपि आपका कहना है कि आप को विक्रम की शक्ति का पता था किन्तु शायद विक्रम की इतनी सुदृढ़ शक्ति से आप परिचित न थे। और शायद इसलिए भी कि विक्रम पाटलिपुत्र के नाश की योजना कार्यान्वित न करना चाहते थे। इसलिए शत्रु की शक्ति का अटकल लगाने में हम लोग असफल रहे। हाँ, आज का अनुभव और परिस्थिति दोनों भिन्न हैं। शत्रु-दल हमसे अपराजित है। फिर भी, न जाने क्यों आक्रमणात्मक युद्ध नहीं कर रहा है। यदि हम मान लें कि शक्ति में शत्रु-दल हमसे क्षीण है इसलिए आक्रमण नहीं कर रहा है तो भी आत्म-रक्षा के निमित्त पिछड़ना आवश्यक था। किन्तु स्पष्ट यह है कि जितना हम एक दिन में पीछे खदेड़ देते हैं, उतनी ही भूमि पर वे पुनः अधिकार स्थापित कर लेते हैं। स्पष्ट यह है कि विक्रम की सेना तिल भर भी पीछे नहीं हटी है। संभवतः विक्रम की यही नीति रही हो कि प्रथम साम, दाम, दण्ड एवं भेद द्वारा सम्राट को राजधानी से निकाल कर दूर युद्ध में प्रवृत्त कर दिया जाय और तब राजधानी को अपने अधिकार में किया जाय। पश्चात् सैन्य-आक्रमण द्वारा आपकी सेना को भी कुचल दिया जाय। इस प्रकार शत्रु-दल प्रथम उद्योग में सफल रहा और अब दूसरी सफलता प्राप्त करने की बारी है।'

—"क्षमा कीजिए, सम्राट! भरपूर प्रहार करने का समय व्यतीत हो चुका। प्रधान मंत्री सुधन्वा हमारी हार एवं पराजय का प्रथम और अन्तिम कारण है। उसे यह भी ज्ञान न हो सका कि शत्रु-दल उलटे राजधानी में चढ़ने आ रहा है। यदि यह सूचना पहले प्राप्त होती तो शत्रु को पीछे से

खदेड़ कर राजधानी की सेना द्वारा प्रहार करना सुगम होता। इस प्रकार शत्रु-दल का विनाश हो जाता। सचमुच सुधन्वा सही सूचनाएँ भी न एकत्रित कर सका कि राजे श्री कब पाटलिपुत्रि पर चढ़ दौड़ने वाली है। इसीलिए सम्राट्! निष्फल रक्तपात को बचाना मैं भी अपना कर्तव्य समझता हूँ।"

किन्तु अब उपाय क्या है, प्रधान!

उपाय बहुत छोटा है, महाराज! यदि महान राजे श्री का प्रणय सम्बन्ध विवाह रूप में विक्रम के साथ स्थिर हो सके तो शायद आगामी महानाश की घड़ियाँ न उपस्थित हो सकें किन्तु"....

"यह असंभव है, प्रधान!" गरज कर प्रसेनजीत बोला, "तुम मेरे सम्मान को कुचल कर शत्रु से क्षमा की याचना करने का उपाय रच रहे हो। राजे श्री भले ही विक्रम के समक्ष समर्पित बनी रहे किन्तु प्रसेनजीत स्वेच्छा से अपनी कन्या विक्रम को नहीं दे सकता। मैं मानता हूँ वह विजयी और श्रेष्ठ है किन्तु अपने सम्मान-मद से चूर्ण है। वह विजयी और श्रेष्ठ है किन्तु अपने सम्मान-मद से चूर्ण है। वह मुझे अपनी बराबरी का नहीं मानता। वह पद-दलित होकर भी पदारूढ़ थी भाँति गौरव मय जीवन लिपटा रहा है। मैं उसकी अहमन्यता के नाश का बीड़ा उठा चुका हूँ।"

प्रसेनजीत प्रधान सेनापति पर झुँझलाता हुआ शिविर की ओर चला गया।

प्रधान सेनापति हाथ मलता हुआ उठ खड़ा हुआ। और मन ही मन बोला—'मूर्ख सम्राट! पराजय का तीखा प्याला तुझे ही पीना पड़ेगा। आज तू न मान, न सही किन्तु साम्राज्य की प्रजा का विक्रम ही युवक-सम्राट है। पुरुषत्व उसके चरणों में समर्पित है। साम्राज्य के नर-नारियों की अटल श्रद्धा, अटूट विश्वास एवं अनन्य आन्तरिक सदभिलाषा विक्रम को आशीर्वाद दे रही हैं। वह विजयी न हो तो क्या तुम होगे जो अरक्षित दीन-प्रजा के सम्राट बनने का स्वांग बनाये हुए हो। जमाना तुम्हें नहीं चाहता, अपनी इच्छा से ज़माने पर कब तक लदे रहोगे।'

प्रधान सेनापति क्रुद्ध एवं खिन्न-मना होकर अपने समस्त अधीनस्थ यूथपतियों को बुला कर आक्रमण की सम्पूर्ण योजना समझाते हुए बोला—"कल प्रातः काल अरि मर्दिनी तोपों के गरजते ही सैन्य-आक्रमण प्रारम्भ हो जावेगा। कल से साम्राज्य वाद एवं प्रजातंत्र के बीच निर्णायिक युद्ध का श्री गणेश है। इसलिए आप लोग साम्राज्य शक्ति को अपने जीवन का अन्तिम रक्त-बिन्दु देकर विजयी बनाने में हमारी सहायता करें। यही अन्तिम आदेश है।"

भिन्न-भिन्न सेनापतियों ने अपने २ दलों में जाकर सेना के लिए नाना प्रकार के आदेश निकालना प्रारंभ किया और इधर प्रधान सेनापति युद्ध भूमि के विस्तृत मान-चित्र पर दृष्टि गड़ा कर अपने आगामी कर्तव्यों का पठन-पाठन और विश्लेषण शुरू किया।

सम्राट प्रसेनजीत अपने शून्य शिविर में अनेक उत्थान पतन की विषमताओं पर आँसू बहाता एवं निराशा के असीम अन्धकार में अपना लोप होता हुआ अस्तित्व देख कर विचलित हो उठा। उसकी अन्तरात्मा ने धिक्कार कर कहा—'अरे हत भाग्य! विनाश के खेल रचकर सुख, शान्ति एवं समृद्धि को कैसे प्राप्त कर सकेगा?'

प्रसेनजीत ज्यों त्यों करवटें बदल कर रात्रि बिताना प्रारम्भ किया।

× × × ×

प्रभात के निकलते ही प्रसेनजीत की सेना विक्रम की शक्ति कुचलने के लिए प्रबल बादलों की भाँति चारों ओर दौड़ने लगी। भीमकाय तोपों के गर्जन कर्ण रन्ध्रों को बधिर करने लगे। सैन्य पद-रज से आकाश मार्ग धूलि धूसरित हो गया। प्रेम और दया-ममता और मोह जो क्षण भर पूर्व प्रत्येक सैनिक के मुख पर चमक रहा था, जाने कहीं विलीन हो गया। सब के सब वीतरागी की भाँति जीवन की अनित्यता पर निष्फल विचार करते हुए सर्वनाश के साथ जूझने के लिए आगे बढ़े जा रहे थे। सैनिकों की भावनाएँ कर्तव्य पालन के अमर मन्त्र से दिक्षित हो कर, स्वपक्ष की विजय के लिए, अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की होड़ में, मानो शरीर ज्ञान

से शून्य हो चुकी थीं। उनके सामने एक ही लक्ष था विजय, उनका एक ही नारा था भयानक युद्ध !

प्रसेनजीत अपने घोड़े पर सवार हो कर युद्ध-भूमि में वीर सैनिकों की भाँति दौड़ता हुआ वायु की गति से उड़ा जा रहा था। सेनापति, उपप्रधान एवं अन्य सैनिक यूथप सम्राट के पीछे चुपचाप भागे चले जा रहे थे। दौड़ धूप, घोड़ों एवं हाथियों की हींस एवं चिंघाड़, पदध्वनियों की धमक से सारा युद्धक्षेत्र गूँज रहा था। किसी को अपने पराये का ज्ञान न था। समर-सुरा की मादकता से जैसे सब बेहोश एवं मदमस्त थे।

इन सारी हलचलों के बीच विक्रम की सेना का गर्जन-तर्जन अभी बहुत दूर था किन्तु जैसे ही जैसे दोनों ओर से दो समर स्रोतस्विनी एक दूसरे से संगम करने के लिए उछलती-फाँदती, सम एवं विषम भूमि-तल को पार करती हुई बढ़ रही थी, वैसे ही वैसे विक्रम की श्री करुण मुख विवशता के कारण क्रूर होती जा रही थी। सेनाओं में जिस अपूर्व उत्साह एवं अमर बलिदान की भावनाओं का दृश्य विक्रम देख रहा था, वह जैसे विक्रम के हृदय के पास आकर कह रहीं थीं कि ये सब वीर निर्मोही हो चुके हैं, इनमें जीवन की लालसा नहीं है। ये मृत्यु-पथ पर हर्षा मर्ष के उद्वेग से हीन होकर बढ़े जा रहे हैं। इनका मूल्यवान जीवन-रक्त बोझिल मेदिनी के अन्याय एवं पाप-भार को शमन करने में सहायक होगा। ये वीर महान्-मानवता को दासीय बन्धन से मुक्त करने में स्वर्ग के अमर-दूतों की-सी विजय-श्री से विभूषित होंगे।

बिक्रम आह भर कर अस्फुट शब्दों में कह उठा—"मेरे हृदय के टुकड़े, वीरों ! अपनी माता-पिता की प्यारी सन्तानों !! राष्ट्र की अमर विभूतियों !!! तुम्हारा पावन गुण-गान राष्ट्र की आत्मा करेगी। तुम्हारे बलिदान-मय उज्ज्वल कर्मों की अमिट गाथा युगों तक मार्ग प्रदर्शन करेगी।"

क्रमशः दोनों ओर की सेनाएँ एक दूसरे से आकर भिड़ गयीं। रक्त-पात, विनाश एवं वीभत्सता का रोमाञ्चकारी दृश्य चारों ओर फैल गया। हत्या की बाढ़ चढ़ दौड़ी। बड़े २ सेनानी एवं अडिग वीर रण-नदी की

प्रखर-धारा में बह चले। प्रसेनजीत एवं विक्रम दोनों स्वपक्ष की कुशल-क्षेम एवं विजय की चिन्ता से विमूढ़ होकर नाश का महान नृत्य अपनी अपलक दृष्टि से देखने लगे।

धीरे २ दिन चढ़ा, दोपहर हुई, शाम भी व्यतीत हो गई। दिन के बाद दिन बीतते गये और माह के पश्चात् माह भी। इसी प्रकार विजय-श्री की लालसा में धूप-छाँह की भाँति काल की गति का अबाध प्रवाह, न जाने अदृश्य क्षीय वनिका में कहाँ विलीन हो गया। सारा युद्ध-क्षेत्र अमिट-पीड़ा की कौतुक भूमि बनकर रुदन, कराह एवं चीत्कारों की ध्वनि से गुञ्जित हो उठा। विजय के हर्षोल्लास की आशा अपावन रक्तपात के दारुण-दृश्य से धुँधली और विकृत होने लगी। निर्दयता का ताण्डव नृत्य युद्ध भूमि में वीभत्सता का शृङ्गार बन कर चारों ओर दिखलायी पड़ने लगा। उन्मुक्त सनसनाती हुई वायु व्यथा एवं कराह की करुण रागिनी को, अपनी अपनी तरङ्गों में भर कर विक्रम के कानों के परदे से टकराने लगी। विक्रम आहें भर कर चुप रह जाने लगा।

रह रह कर विक्रम सोचता—ओह! दस, बीस, पचास, सौ, हजार और लक्षों तक की हत्या का पाप बढ़ चुका है। और वह आह भर कर चुप हो जाता।

पुनः सम्पूर्ण दिन रणाङ्गण में वीर की भाँति सैनिकों को साथ लिये हुए युद्ध का उपदेश करता—आदेश करता और सन्ध्या पश्चात् जब समग्र सेना शिविर की ओर लौट आती तब वह चिकित्सकों को साथ लेकर, रण-भूमि में पड़े घायल वीरों की सेवा-शुश्रूषा एवं मलहम-पट्टी के कार्य में निमग्न हो जाता। विक्रम के पास अपने विश्राम के लिए बहुत ही कम अवकाश था। हाँ, यदि अवकाश हो भी तो उसके नैनों की नींद खो चुकी थी।

वह निस्तब्ध रात्रि की एकान्त घड़ियों में चुपचाप पड़े २ घण्टों रोया करता था। करवटें बदल कर विश्राम की थोड़ी घड़ियां बिता देना ही उसकी उपरामता का प्रधान व्यवसाय था। आँसुओं से तर हो कर जब उसका वक्षःस्थल भीग जाता तब वह रुग्ण जैसा पीला चेहरा ले कर

दीपक के प्रकाश में आ बैठता और अगले दिन की निर्दय-हत्या को कम करने की योजना में तन्मय हो जाता था।

धीरे २ विक्रम कृश गात हो चला था। मन की पीड़ा मन ही में चक्कर काटने लगी थी। मिलना-जुलना भी बहुत कम हो चुका था। जब कभी आवश्यकता पड़े, तो वह अपने सैन्य सलाहकारों से मिल कर युद्ध सम्बन्धी मन्त्रणाएँ करता और आदेश निकाल कर शान्त हो जाता था।

विक्रम के नरेश-मित्र एवं सैनिक-अधिकारी उसकी इस चेष्टा पर मन ही मन खिन्न रहने लगे थे। विक्रम का इस प्रकार अवसाद में डूबा रहना सभी को अखरने लगा था।

अन्ततः एक दिन मालव-नरेश एवं द्युमत्सेन ने मिल कर महाराज के एकान्त में प्रवेश किया और मालव-नरेश ने कहा—"महाराज! आपकी खिन्न-मुद्रा और इस एकान्तवास का क्या कारण है? विजय-श्री हमारे पक्ष में है और एक न एक दिन वह हमें अवश्य वरण करेगी। एक प्रकार से यह युद्ध अधिक से अधिक एक मास की अवधि तक समाप्त हो जाने वाला है।"

विक्रम नत-दृष्टि एवं पीली मुसकुराहट से मालव नरेश को देखता हुआ धीमे स्वर में बोला—"मालवेश! इस विजय में मेरे जीवन की सबसे बड़ी हार छिपी है। पता नहीं, विजय के पश्चात् जीवन-गति किन प्रवाहों के साथ बहे। आज मेरी भावनाओं में तूफानी सङ्घर्ष एवं द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। मैं ठीक २ नहीं समझ पा रहा हूँ कि अन्ततः इन सबका परिणाम मेरे जीवन पर क्या पड़ेगा? किन्तु यह सच है कि आज से पूर्व मेरी मनः स्थिति इतनी निराशा पूर्ण कभी न हुई थी।"

द्युमत्सेन जो हाल ही में पाटलिपुत्र से राजेश्री के सन्देश के साथ वापस लौटा था, विक्रम पर तीक्ष्ण दृष्टि डालते हुए मालव-नरेश से बोला—"महाराज पर हिंसक युद्ध का बुरा प्रभाव पड़ा है और मेरा अनुमान है कि वे पश्चात्ताप पूर्ण मनः स्थिति के बीच से गुजर रहे हैं।"

कातर दृष्टि से मालव-नरेश की ओर संकेत करते हुए विक्रम ने कहा—"द्युमत्सेन का कहना यथार्थ है। एक बात और है, वह यह कि

हिंसक युद्ध के प्रति जो सन्देश वाही पत्र महान् राजेश्री के समीप भेजा गया था, उसके प्रत्युत्तर में राजे श्री ने ग्लानि से भर देने वाला मनस्ताप-पूर्ण पत्र भेजा है। राजे श्री ने मेरा सम्बोधन हत्यारे शब्द से किया है। मालवेश ! मैं संसार की किसी शक्ति से उतना अधिक प्रभावित नहीं हूँ, जितना राजेश्री के व्यक्तित्व से। सचमुच, युद्ध-जनित क्रूर-हत्याओं ने स्वतः मेरे अन्तः करण को चीर डाला है। फिर भला, राजेश्री क्यों न पसीज कर मुझ पर हत्याओं का भार डाले।"

मालवेश ने सान्त्वना मिश्रित भाषा में कहा-"महाराज ! सङ्घर्ष, सृष्टि का अटल सिद्धान्त है।" "जीवहिं जीव अधार" के न्यायानुसार सदैव संसार में मात्स्य-न्याय रह आया है। छोटी मछली को बड़ी मछली निगल जाती है। सबल का निर्बल पर आधिपत्य होना कोई असंभव बात नहीं है। शक्ति के इसी सङ्घर्ष में साम्राज्यों के मान चित्र बनते और बिगड़ते रहे हैं। बड़े २ जगद्गुरू संसार की अनैक्यता और हिंसा को नहीं मिटा सके। निवृत्तमार्गी सदैव प्रवृत्तमार्गियों को अपने सदुपदेश द्वारा किसी निश्चित सीमा तक सुधारने में तत्पर रहे, किन्तु निवृत्ति और प्रवृत्ति सदैव समानान्तर रेखा की भाँति एक दूसरे के प्रतिकूल दौड़ती रही हैं। यदि आज के विनाश को देख कर आपका हृदय काँप उठा है तो भविष्य में असमानता को कम करने में अवश्य आपकी सहायता मिलेगी। किन्तु उद्यत सङ्घर्ष को यदि आप रोकना भी चाहें तो भी चढ़ते हुए पानी की भाँति संयम के मेड़ को फोड़ कर वह अपना व्यापक प्रभाव दिखलावेगा ही, अस्तु आप शान्त होकर आगे होने वाली विजय पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान एवं सामर्थ्य केन्द्रित रक्खें। हिंसा और विनाश द्वारा उत्पन्न हुआ पश्चात्ताप आगे आने वाली पीढ़ियों की विषमताओं एवं अनैक्यताओं को कम करने में सहायक होगा। इस युद्ध का यही अवश्यम्भावी परिणाम है। अतीत पर कुछ भी विचार करना व्यर्थ है।"

विक्रम ने मालवेश की बातों का समर्थन करते हुए प्रत्युत्तर दिया—"मित्र ! तुम्हारा कहना सर्वथा सत्य है किन्तु व्यक्तिगत इस हिंसक युद्ध का दायित्व मुझ पर है। मैं एक पद-च्युत सम्राट् हूँ। जनता की भावना

में विषमयी भावना का सञ्चार करने वाले विपक्षी, भला यह कहने में कब चूकेंगे कि सिंहासनच्यूत समाट ने ही राज-सिंहासन को पुनः हस्तगत करने के लिए ही इस सर्वनाश के खेल को रचा है। क्योंकि प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का प्रमुख प्रचारक बन कर भी शक्ति मैंने अपने ही अधिकार में रख छोड़ी है।"

"कुछ नहीं महाराज ! यह सोचना सत्य पर पर्दा डालना है। योग्य व्यक्तियों को आपके हाथों से शक्ति छीन लेना चाहिए। हाँ, जब तक प्रतियोगिता में आपसे आगे बढ़ने वाला कोई न हो तब तक नेतृत्व आपके ही हाथों रहेगा। विपक्षियों के असत्य प्रचार के भय से आपको अपना हृदय छोटा न करना चाहिए।"

"नहीं मालवेश !" कुछ अशान्त होकर विक्रम बोला—"मुझे विपक्षियों से कोई डर नहीं, उनके सम्मुख तो मैं डट कर खड़ा हूँ, किन्तु राजेश्री ने जो पत्र मेरे नाम भेजा है, उसे पढ़ कर तुम विस्मय-विमुग्ध हुए बिना न रह सकोगे।"

विक्रम स्वतः उठ कर एक पत्र उठा लाया और मालवेश के समक्ष फेकते हुए बोला—"यह पत्र पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के पश्चात् महान राजेश्री ने भेजा है। यद्यपि पत्र व्यक्तिगत है किन्तु मैं पढ़ने का अधिकार देता हूँ।

मालवेश और द्युमत्सेन को पत्र के साथ शिविर में छोड़ कर विक्रम बाहर निकल आया। और शून्य-रजनी की स्तब्धता में अपने मन की वेदना को आसुओं की धारा में घोल कर अतृप्त शराबी की भाँति पीने लगा।

मालबेश और द्युमत्सेन पत्र खोल कर पढ़ने लगे। वह इस प्रकार था—

पूज्य महाराज !

आपके दर्शन की अभिलाषा लिये मैं अपनी मातृभूमि पाटलिपुत्र पर बैठी हुई अविश्वास के साथ सुन रही थी कि आप हिंसक युद्ध में निरत हो चुके हैं। किन्तु दूतों द्वारा आपका पत्र पाकर मैं आश्चर्य अवाक्

हूँ कि कैसे आपने मेरे अनुरोध की उपेक्षा। कर हिंसक युद्ध प्रारंभ कर दिया। मेरा अनुरोध केवल अनुरोध न होकर एक आदेश भी था क्योंकि समस्त स्वतन्त्र सदस्यों द्वारा मेरा पथ-प्रदर्शन स्वीकार किया जा चुका था। नियंत्रण के इस नियम को भङ्ग कर, बिना मेरी अन्तिम आज्ञा प्राप्त किये हिंसक युद्ध प्रारम्भ कर देने जैसा नितान्त अनुचित-कार्य-किया गया है, जिसका मैं किसी प्रकार समर्थन नहीं कर सकती। मैं प्रजातंत्र की प्रधाना की हैसियत से आपके कृतियों पर अविश्वास का प्रस्ताव रखती हूँ। क्या आप मेरी भावनाओं का—यदि वे यथार्थ हैं—तो निश्चित उत्तर दे सकेंगे ?

महाराज ! यदि मुझे एक मात्र खिलौना समझ कर प्रधाना पद से विभूषित किया गया हो तो मैं कहूँगी कि आपके साथ २ समस्त सदस्यों ने भारी भूल की है। मैं किसी पुरुष की इच्छाओं का इङ्गित-मात्र बन कर राजनीति के उलझन भरे क्षेत्र में कदापि नहीं रहना चाहती।

मुझे पाटलिपुत्र की ओर विदा कर क्या स्वेच्छाचार के लिए ही समस्त स्वांग रचा गया था ? या मेरी प्रतिभा में कुछ भी विश्वास करते हुए मेरा नेतृत्व स्वीकार किया गया था ? आरोपित दोषों का उत्तरदायी कौन है ? इतनी दूर रह कर, भी मैं कह सकती हूँ कि यदि यही युद्ध मुझे लड़ना पड़ता तो मैं अपार हिंसा का कदापि आश्रय न लेती। केवल कौशल एवं नीति द्वारा सम्राट् प्रसेनजीत को वन्दी बना कर सारा सर्व-नाश का खेल उलट देती। काश ! युद्ध प्रारम्भ करते समय भी मेरा आह्वान किया गया होता ! काश ! आप सोच सकते कि राजेश्री केवल आपकी दृष्टि में तुच्छ है किन्तु महान उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों के लिए उपयुक्त भी। आपने वर्षों की प्रतिपालित मेरी सम्पूर्ण पूज्य कामना-वल्लरी को निर्दयता एवं निरंकुशता के साथ कुचल डाला है। आज मैं अपनी दल-मसली भावना को लिये उस दिन की प्रतीक्षा में बैठी हूँ, जब आपका तख्तो-ताज सौंप कर मैं निर्विशेष बन बैठूंगी। मैं निर्दय हत्यारेपन को कभी क्षमा नहीं कर सकती।

दर्शनाभिलाषी

राजेश्री

मालवेश और द्युमत्सेन ने पत्र पढ़ कर रख दिया और निःश्वास भरते हुए विक्रम के सामने जा खड़े हुए। "पढ़ लिया पत्र तुम दोनों ने"—विक्रम ने पूछा। "हाँ, महाराज' !

सूखी हँसी हँसते हुए विक्रम ने कहा—"क्यों मुझ पर गहरे आरोप हैं न ! राजेश्री को कौन जवाब दे ?"

विक्रम शिविर के अन्दर घुसते हुए बोला—"तुम दोनों जा सकते हो। हाँ प्रधान से कहना, युद्ध शीघ्र समाप्त हो। मैं राजेश्री से मिलने को उत्सुक एवं अधीर हूँ।"

× × × ×

पाटलिपुत्र से द्युमत्सेन को लौटे हुए पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका था किन्तु राजे श्री को युद्ध सम्बन्धी सूचनाओं के अतिरिक्त विक्रम का कोई समाचार न मिला था।

एक दिन राजेश्री सन्ध्या वन्दन से निवृत होकर ज्योंही मेघाच्छन्न आकाश की ओर देखने लगी, त्योंही अपने व्यथित हृदय की प्रलयंकरी पीड़ा से तिलमिला उठी। प्रातः सन्ध्या की प्रभात वेला में उसने आपको शून्य जैसा स्तब्ध पाया और सम्पूर्ण वातावरण जैसे उसके जीवन पर विद्रूप हँसी में हँस सा रहा था।

प्रभात वेला में पक्षियों की सुमधुर झङ्कारमयी रागिनी से मेघावृत आकाश गुञ्जित होकर, हृदय की घटाटोप वेदनाओं की प्रगाढ़ तमिस्रा में राजे श्री को विह्वल सा कर रहे थे। राजेश्री पावसी हरीतिमा के मध्य सुमृदु राग रञ्जित गुलाब की खिली पंखड़ियों पर दृष्टिपात करती हुई जैसे पूछ रही थी—"मृदुल पुष्प ! आज तुम्हारा देवता बदलियों में छिपा है। क्या आज का तुम्हारा बिकसित होना व्यर्थ नहीं है ? वह तुम्हारी पूजा को, तुम्हारे मृदु सुवास को पावन हर्षोल्लास को, तुम्हारी भक्ति भाव मयी समर्पित कृतार्थता को ग्रहण न करेगा। फिर भी तुम अति विह्वल होकर उसकी दर्शन लालसा में विमुग्ध हो, इठला कर खिले हुए हो ! क्या इतनी अवसादमयी घड़ियाँ तुम्हारे लिए अशुभ नहीं हैं ?"

सहसा घूम कर राजे श्री की दृष्टि अगर कपूर की सुलगती हुई

धूम्र-शिखा पर पड़ी तब वह उनसे भी जैसे पूछ बैठी—"मादक धूम्र लहरियो! तुम सुखी हो। तुम अपने प्रियतम वायु के झकोरों के साथ उड़ती हुई जीवन की कृतार्थता पर अठखेलियां कर रही हो। तुम्हारा समर्पण सार्थक एवं लोकोन्तरानन्दकारी है। तुम मेरी भाँति अमित अपावन धूम्र शिखाओं का सृजन नहीं करती और न मेरी तरह विदग्ध होकर झुलसेपन की पीड़ा से ही सिहरती हो। सखी! एक बात कहो। क्या कभी मेरे जीवन-यज्ञ की धूम्र शिखाएँ भी सत्कर्मों द्वारा सुवासित होंगी? क्या कभी मेरा देवता भी पसीज उठेगा? क्या मैं कभी बिगलित आँसुओं की अजस्र-धारा से उबर सकूँगी? आज तो डूबी हुई हूँ, आपाद मस्तक निमग्न हूँ। घिरी हुई बदली जिस प्रकार वायु के झोंके खा-खा कर सिहर उठती है, मैं भी वैसे ही जीवन के एकान्त वन्य-प्रदेश में रुदन-सरिता के अंक में निमग्न हूँ। बादल फट नहीं सकते। बदली का सिमिट २ कर रोना शान्त हो नहीं सकता। मैं अपनी करुणा से घिरी हुई हूँ, घिरी रहूँगी।"

"अरी प्रातः सन्ध्ये! तुम अश्रुपूर्ण हो। तुम तुहिनाचल से आर्द्रता का शीतल-स्पर्श ले कर आयी हो। आज तुम्हारे जीवन में आनन्दोन्माद एवं पुलकावलियों का निष्ठुर अभाव है। तुम मेरे रोम में निर्जीवता एवं सिकुड़न भर रही हो। कैसे कहूँ कि तुम मेरे लिए अनुरागरञ्जित प्रभात की मधुरिमा ले कर भी कभी आओगी भी या नहीं।"

"दुनिया कहती है कि हमारे चमकीले दिन वैभव एवं उन्माद लेकर आये हैं किन्तु मैं जानती हूँ कि वे अमित हिंसा के रक्त से स्नान कर अशुभ बन गये हैं। मेरे प्रेम प्रभू पूजा की अशुद्ध प्रणाली से क्रुद्ध होकर रूठ गये हैं। मेरे लिए व्यथा की बदली बूँदी और सिहरन के सिवा कुछ नहीं है।"

"विक्रम कल सम्राट होने वाले हैं, न सही, प्रजा के मार्ग दर्शक ही सही, वह शक्ति और शासक को अपनाये रखने के लिए अपार हिंसक के रक्त सागर में सैन्य पोत लिये विचरण कर रहे हैं। वह पुरुष हैं उनका स्वाभाविक धर्म क्रूरता हो सकता है। वह पत्र में लिखते हैं, जब

वह अहिंसा को अक्षुण्ण न बनाये रख सके तभी हिंसा की घहराती हुई लहरों पर विजय-तट प्राप्त करने की अभिलाषा से अनेक तूफानों के गर्जन में मैंने अपना सैन्य पोत डाल दिया। भगवान जाने पार लगे, या सदा के लिए डूब जांय।"

"आह! मैं सोचती थी, विक्रम देवता हैं क्योंकि उनमें त्याग, तपस्या भरी हुई है किन्तु आज विक्रम राक्षस हैं क्योंकि वे हिंसक युद्ध में निरत हैं।"

"विक्रम! विक्रम!! यदि तुम हिंसा को रोक सकते, यदि तुम प्रतिहिंसा की भावना को जीत कर सम्राट् प्रसेन को क्षमा कर सकते, हाँ, यदि तुम शत्रु को मित्र में बदल सकते, तो मैं तुम्हारी पूजा करती। जीवन का सारा अनुराग तुम्हारे चरणों में उड़ेल कर कृतार्थ हो जाती।"

"आह! विक्रम! तुमने एक नारी के कोमल हृदय में प्रेम एवं पूजा के स्थान पर घृणा एवं तिरस्कार का अङ्कुर उत्पन्न कर उसका सर्वस्व छीन लिया। मैं किस अन्यायी हृदय को लेकर तुम्हारी प्रेमोपासना में अपना जीवन उत्सर्ग करूँ।"

राजकुमारी राजे श्री अपनी उद्गार भरी भावनाओं के वारापार में डूबती उतराती-सी किनारा खोजने लगी। लाख बार समझाने पर भी भावनाओं में गड़ कर उसके प्रणय का प्रथम भिक्षुक प्रद्युम्न अन्तर्दृष्टि में नाचने लगा।

राजेश्री विक्रम एवं प्रद्युम्न की तुलना करने में विस्मृत हो गयी। स्मृति-पथ पर साथ-साथ विचरण करने वाला विक्रम जैसे साम्राज्य-लिप्सा से विमोहित हो कर राजेश्री के प्रेम-पथ से दूर हटता जा रहा था और विक्रम की स्थानापन्न प्रणय-भूमि पर हठात् प्रद्युम्न की स्मृति ताजी हो कर जैसे राजेश्री पर अपना प्रभाव-सी डाल रही थी।

राजकुमारी मन ही मन कह रही थी—"मैं विक्रम को प्यार नहीं कर सकती। मैं उस हृदय-पिण्ड को उखाड़ कर फेंक दूंगी, जिसमें हत्यारे विकम के प्रेम का पौधा पनपा है। मैं उस प्रेम के मस्तक पर ठोकर मारूँगी जिसने अन्यायी को अपना प्रेम देवता माना है। कल तक

विक्रम एक पहेली-सा जटिल एवं दुरूह था किन्तु आज वह अपनी नग्न भावनाओं को लिये स्पष्ट हो चुका है। बस, मेरे प्रेम तत्व का अधिष्ठातृ देवता प्रद्युम्न ही रहेगा। माना आज प्रद्युम्न मेरी दृष्टि से ओझल है किन्तु उसकी पावन स्मृति ही मेरे प्रेम अर्चना की अधिकारिणी है। विक्रम विजयी हो, आ कर अपना साम्राज्य सम्हाले। मैं सर्वस्व उत्सर्ग कर प्रद्युम्न की खोज में निरत होऊँगी। आज तक मुझे विक्रम के पाने की आशा थी किन्तु हत्यारे विक्रम से कुछ लेना ही नहीं है। हत्या में डूब कर विक्रम कुरूप बन चुका। मैं असुन्दर विक्रम की पुजारिणी न बनूँगी।"

"मेरे पिता आज सम्राट हैं, कल वे सम्राट न होंगे। या वे युद्ध भूमि में आहत हो कर सम्राट-पद की लिप्सामयी आकांक्षा का त्याग करेंगे। न मैं कभी पहले सम्राट की बेटी थी और न इस युद्ध के पश्चात् ही रहूँगी।"

राजकुमारी व्यथित होकर पागल की भाँति शून्य दृष्टि से चारों ओर देखने लगी। उसके हृदयोद्गार फूट-फूट कर होठों से बाहर निकल पड़े। वह जैसे प्रतिज्ञा की भाषा में कह उठी—"प्रद्युम्न ! मेरे प्रणय देवता !! मेरे विगलित जीवन के अनुपम उल्लास !!! तुम जहाँ हो वहीं से मेरी प्रेम-पिपासा की अनुतप्त व्यथा को शान्त करना। मैं तुम्हारी खोज में आकाश-पाताल में विचरण करूँगी। तुम्हारे अस्तित्व की कहानी को कण-कण से पूछूंगी और अन्त में तुम्हें खोज कर पा लूँगी। आह ! मैंने तुम्हारा दिल तोड़ा और तुम्हारी दुनिया तक उजाड़ दी। तुम्हारे प्रेम-पल्लवित जीवन पर निराशा के नीहार एवं—तुषारापात को फैला कर तुम्हारे स्नेह बुभुक्षित जीवन को अभिशापों की पीड़ाओं को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसलिए प्रियतम ! आज व्यथाओं की उलझन में चिर सञ्चित स्वार्थमयी लिप्साओं को बांध कर पुनः तुम्हारी ओर आशामयी टकटकी लगाकर, तुम्हें प्राप्त करने की चेष्टा में बढ़ रही हूँ। देखना, तुम न घृणा के ठोकरों से मुझे हटा देना। मैं दुतकारी और ठुकरायी हूँ किन्तु मेरा प्रेमाञ्चल पवित्र है। शायद तुम्हारी चरण-धूलि प्राप्त कर मैं पुनः मानिनी और भाग्यशालिनी बन सकूँ।"

धीरे २ भावनाओं का उद्गार अमित वेदना एवं प्रखर पश्चात्ताप

के आंसुओं की धारा में डूबकर शान्त हो गया। अपने एकान्त में राजेश्री रो रो कर पावस के बूंदों की भाँति आँसू ढारने लगी। उस दिन के प्राकृतिक वातावरण एवं राजेश्री के जीवन में कितना साम्य था? राजे श्री और प्रकृति दोनों बदली बूंदी एवं बरसात से घिरी थी।

राजे श्री उन घटाटोप बादलों की कालिमा में जैसे अपने जीवन की निराशामयी अंधेरी व्यथा की तुलना कर रही थी। उसके देखते ही देखते प्रेम एवं सौभाग्य सूर्य निबिड़ अन्धकार में डूबा जा रहा था। वैभव पूर्ण जीवन की झाँकी डरावनी कुरूपता में बदल रही थी। वह हृदय की भाषा में अपनी सिसकी रोक कर बोल उठती थी—"मेरे हृदय के पागल अरमानो! क्यों तुमने प्रद्युम्न को ठुकरा कर विक्रम से नाता जोड़ लिया? क्यों तप्त सुवर्ण जैसी कान्ति वाले विक्रम से नाता जोड़ लिया? क्यों तप्त सुवर्ण जैसी कान्ति वाले विक्रम के हृदय में विषमयी हिंसक भावना का नग्न-स्वरूप नहीं दीख पड़ा था? सचमुच, विक्रम बहुरूपियां निकला। उसका बाह्य सौन्दर्य जितना ही आकर्षक था, उतनी ही आन्तरिक कुरूपता का वीभत्स है"।

राजे श्री के नेत्र एकाएक शुष्क हो गये। घृणा की आँच ने वेदना के आँसुओं को सुखा दिया। खोज करती हुई शशिप्रभा राजे श्री के निकट राजोद्यान में जा पहुँची। अभिवादन करती हुई शशिप्रभा बोली—"महान् राजकुमारी! प्रधान सलाहकार सुधन्वा आपकी प्रतीक्षा में खड़े हैं"।

बिना प्रत्युत्तर दिये राजेश्री शशिप्रभा के साथ राज प्रासाद की ओर चल पड़ी। अपने मन्त्रणालय में पहुँच कर सुधन्वा पर दृष्टिपात करते हुए मसनद के सहारे बैठ गयी। शशिप्रभा भी पास ही बैठी।

राजे श्री के प्रति सम्मान एवं सद्भाव प्रकट करते हुए सुधन्वा ने कहा—"महान् राजे श्री को बधाई है।"—"किस बात की"—बनावटी मुसकुराहट प्रदर्शित करते हुए राजेश्री बोली।

"प्रजावादियों के जीत की।"

"क्या सचमुच?" आश्चर्य मुद्रा में राजेश्री बोली।

"हाँ, सचमुच! सम्राट पराजित होकर युद्ध भूमि मे काम आये।

महाराज विक्रम शीघ्र ही पाटलिपुत्र की ओर रवाना होने वाले हैं। बहुत से साम्राज्यवादी गुट के सामन्त वर्ग युद्ध बन्दी हो चुके हैं। सम्राट की सेना ने अस्त्र रख दिया है।"

राजकुमारी व्यथित होकर बोली—"तो अब पिताजी इस नश्वर-जगत से सदा के लिए विदा हो चुके।"

"खेद है, राजकुमारी! वे महाराज विक्रम के साथ युद्ध करते हुए मारे गये।

महान् राजे श्री "हा हन्त" कहती हुई रूमाल से दोनों नेत्र बन्द कर निर्जीव-सी शून्य हो गयी।

सुधन्वा बड़ी देर तक चुपचाप खड़ा रहा। वह सोच न सका कि राजकुमारी को अन्य समाचार भी बतलाये या नहीं किन्तु बीच में ही बाधा उपस्थित करती हुई शशि प्रभा बोली—"प्रधान जी! क्षमा कीजिए, इस समय आप राजकुमारी से कुछ न कहें। यदि कोई आवश्यक सूचना हो तो लिख कर मुझे दे दीजिए। मैं उचित समय पाकर राजकुमारी से निवेदन करूँगी।"

सुधन्वा जो महान राजेश्री के हृदयोद्गारों को जिज्ञासु की भाँति जानने को उत्सुक था, अपनी विफलता पर खीझ कर शशिप्रभा के आदेशानुसार समस्त आवश्यक सूचनाओं को सौंपता हुआ चुपचाप राज-प्रासाद के बाहर निकल आया। शशिप्रभा कुछ दूर तक सुधन्वा के साथ आयी।

मंत्री सुधन्वा बोला—"राजकुमारी शशिप्रभा! कृपया आप महान् राजे श्री से पूछ कर मुझे बतलाइये कि क्या पाटलिपुत्र की प्रजा सम्राट के निधन पर शोक मनायेगी?"

शशि प्रभा वहीं सुधन्वा को रोक कर, राजे श्री के समक्ष आ, पिता की मृत्यु पर शोक मनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया। किन्तु राजेश्री ने मुख ढांपे ही कहा—"शशिप्रभा! पराजित पिता की मृत्यु का शोक उसकी विजयिनी कन्या के अतिरिक्त और कौन मनावेगा? मेरे पिता प्रजा-हितों के शत्रु थे। अस्तु उनके निधन पर यदि प्रजा चाहे तो विजयोत्सव मना

सकती है । और अधिक उचित तो यह है कि महाराज विक्रम के विजय पर समस्त प्रजा खुशियाँ मनाये और सम्राट् की मृत्यु पर अकेले मैं ही शोक मनाऊँगी ।"

शशिप्रभा ने चुपचाप उलटे पावों लौट कर महान राजेश्री का आदेश सुधन्वा को सुना दिया । सुधन्वा सिद्धान्ततः प्रजापक्ष की जीत पर हर्ष मनाने की बात स्वयं सोच रहा था । अतः सम्राट प्रसेनजीत के निधन का समाचार क्षणभर में सारे नगर में फैल गया । विक्रम को विजयी जानकर समस्त प्रजा प्रसन्न मन होकर आनन्दोल्लास से नाच उठी । घर घर बधाइयाँ बजने लगीं । सभी विक्रम के आगमन की बात सुनकर पुण्य पर्व की भाँति विजय-दिवस मनाने लगे ।

एक ओर समस्त नगर एवं सारी प्रजा हर्ष की तुमुलध्वनि से पाटलिपुत्र की गगन चुम्बी अट्टालिकाओं को गुञ्जा रही थी, दूसरी ओर अर्धमृतक की भाँति अपने राज-प्रासाद में महान राजे श्री संज्ञाशून्य पड़ी थी। खान-पान, हास-विलास, एवं राज-प्रबन्ध आदि सम्पूर्ण कर्मों से मुख मोड़ कर एकाकी राजेश्री अपने जीवन की शून्यता के साथ वेदना की सुदृढ़ गाँठ बाँध कर जैसे साकार वेदना बन गयी थी। जिस राजेश्री के भ्रू-विलास पर पाटलिपुत्र का समस्त साम्राज्य नाच रहा था, वह स्वयं अनाथा एवं दीना की भाँति दलित-दशा में सिकुड़ी पड़ी थी।

सन्ध्या समाप्त हो चुकी थी । सम्पूर्ण नगर दीप-ज्योति से आलोकित हो उठा था । राजेश्री अपने प्रकाश-हीन कमरे में अब भी पड़ी हुई थी। दास दासियों को राजेश्री के समीप न जाने का आदेश पहले ही प्राप्त हो चुका था । केवल शशिप्रभा समय-समय पर उपस्थित होकर राजेश्री की मौन-वेदना भङ्ग करने की चेष्टा करती थी किन्तु अपने प्रयत्न में असफल हो कर एवं राजेश्री से डर कर दूर जा बैठती थी । राजेश्री के मनस्ताप का ज्वार-भाटा क्षण प्रतिक्षण वेगवान हो कर अपने आघातों से उसे चूर्ण-विचूर्ण एवं निष्प्राण कर चुका था । अंधेरे में टटोलते हुए शशिप्रभा पुनः राजेश्री के पास जाकर बैठ गयी और सान्त्वना मिश्रित भाषा से राजकुमारी को समझाते हुए उसके मुख पर हाथ फेरने लगी । शशिप्रभा की

उँगलियाँ राजेश्री के उष्ण-अश्रु स्पर्श से विचलित हो कर अपनी जड़ भषा में जैसे बोल उठीं–जैसे राजेश्री अब भी अपने रुदन-व्यापार में निमग्न है। उसके बरौनियों की अद्र्रता ज्यों की त्यों बनी हुई है।

साहस कर शशिप्रभा उठी। अपने हाथों दीपक जलाया और ज्यों ही वह राजेश्री पर दृष्टिपात करने लगी, उसने देखा कि महान् राजेश्री का गुलाब सा खिला हुआ मुखड़ा रोते रोते पीला पड़ गया था। सारे मुखपर व्यथा की कालिमा छा गयी थी।

शशिप्रभा राजेश्री की विपन्नावस्था देखकर स्वयं बड़ी बड़ी बूदों में रो पड़ी और राजेश्री के वक्षःस्थल पर मुख धरते हुए बोली—"महान् राजेश्री क्या आज मुझसे रुष्ट हैं? जिसके बिना आप क्षणभर में अधीर हो उठती थीं; आज उसकी ओर आप दृष्टि निक्षेप तक नहीं कर रही हैं? मैं क्या समझूँ? क्या अपने प्यार का अमित श्रोत मुझ पर उड़ेल कर अब मुझे उससे वञ्चित नहीं कर रही हैं? मुझे तो आपके स्नेह में खोया हुआ मातृत्व का सुख प्राप्त होता था। जिस मातृ-सुख के अभिशाप से मैं अपने को अब तक मुक्त मान रही थी, वह अभिशाप सौभाग्य-सूर्य को ग्रसते हुए राहु केतु के रूप में पुनः उदय हो उठा।

शशिप्रभा राजेश्री के वक्षःस्थल पर बड़ी बड़ी बूदों में रो पड़ी। राजेश्री शशिप्रभा को इसभांति विचलित होते देख अपना सारा दुख जैसे भूल गयी। स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोली— "पगली शशि! तू क्यों इतना दुखी है? मैं कब तुझ पर रुष्ट हुई?"

सिसकते हुए शशिप्रभा ने कहा—"रुष्ट तो हैं ही। आज आपने अन्न-जल तक नहीं ग्रहण किया? मैं कितनी बार आपके पास आयी किन्तु आपने फूटे मुँह से भी कुछ न कहा। मैं क्या कोई हृदय हीन हूँ जो आपकी पीड़ा से दुखित नहीं हूँ। आज सम्पूर्ण पाटलिपुत्र उत्सव-मग्न है। केवल आपकी विरामभूमि आपके हृदय की भाँति शोकपूर्ण एवं तमाच्छादित है। आज आपकी पुलकमयी भाषा मौन और गूंगी है। इसी हेतु सम्पूर्ण राज-प्रासाद शोकपूर्ण है। महान् राजकुमारी! आप स्वयं नहीं जानती कि आपकी वाणी में कितना मधुर संगीत भरा है।

"भद्रे, शशि प्रभा ! तुम्हें ज्ञात है न कि आज से संसार में मेरा अपना कोई नहीं रह गया। न मेरी मां है, न भाई और आज से नाम मात्र का पिता का सम्बन्ध भी छिन्न-भिन्न हो गया। माना, दुनिया समझती रही होगी कि वे मेरे शत्रु हैं किन्तु सत्य तो यही है कि मेरा जन्म उन्हीं के वीर्य से हुआ था। आज वह वृक्ष जड़ से उखड़ चुका है जिसकी मैं शाखा हूँ। उसके अन्तिम समय में उन्हें सान्त्वना के दो शब्द कहकर भी प्रसन्न न कर सकी मुझे कब ज्ञान था कि उन्हें इस युद्ध में आत्म-बलिदान करना पड़ेगा। वे मुझे कितना प्यार करते थे। माता की मृत्यु के पश्चात् पिता के कर्त्तव्य के साथ साथ उन्होंने मातृत्व का बोझ भी अपने ऊपर डाल लिया था। मैं यदि अच्छी हूँ तो वे कभी बुरे न थे। क्योंकि मनुष्य के नेक और बद होने का पता उनकी सन्तान से चलता है।"

राजकुमारी राजेश्री की रोती आँखें जैसे कुछ खोज रहीं थीं। वह पिता के किसी काम न आ सकने के कारण अपने जन्म और जीवन की व्यर्थता पर कुढ़ रही थी। उसके जीवन का न कोई संगी था, न साथी। सांसारी जीवन के अस्तित्व की निःशेष कहानी की वह एकाकी पात्र रह गयी थी। वह ढुलकते हुए आँसुओं की त्रिवेणी में जीवन के पापों और सन्तापों को धो रही थी।

हेम प्रभा ने प्यार से हाथ पकड़ते हुए कहा—चलिये, स्नानादिक कार्यों से निवृत्त हो कर श्रद्धा और भक्ति पूर्वक पिताजी की मृतात्मा को तिलाञ्जलि दीजिये। अब पिछली भूलों पर सन्ताप करना व्यर्थ है।

महान् राजेश्री यंत्र चालित की भाँति हेम प्रभा के सहारे चल पड़ी। हेमप्रभा दास दासियों की अनुपस्थिति में राजेश्री की सेवा करती हुई सन्तुष्ट हो रही थी।

जब राजेश्री स्नानादिक कार्यों से निवृत्त हो चुकी तब हेमप्रभा भी पवित्र होकर राजेश्री के साथ ही तिलाञ्जलि देने बैठी।

राजेश्री हेमप्रभा की अनुरागमयी विह्वलता देखकर मन ही मन कृतज्ञता पूर्ण भावों से आशीर्वाद देने लगी।

एक ओर समस्त पाटलिपुत्र हर्षातिरेक से नाच रही थी, दूसरी ओर

वेदना विह्वल राजेश्री मृतात्मा पिता को तिलाञ्जलि देती हुई आँसू की बूदों से अपनी जीवन-वेदना सींच रही थी।

सच तो यही है कि विश्व विजय की पुलकावलियों में भी मनुष्य आत्म-वेदना की ज्वलन शीलता को कम नहीं कर पाता।

+ + + +

युद्ध का अन्तः परिणाम नाश है। जन, धन, सभ्यता पवित्र मनोभाव एवं आध्यात्मिक नाश ही हिंसक युद्ध की विजयश्री है। यथार्थ में ऐसी जीत और हार में कोई अन्तर नहीं है।

प्रसेन जीत की पराजय के पश्चात् विक्रम अतुल जन धन का नाश एवं मानसिक पश्चात्ताप के परिणाम को लेकर पाटलिपुत्र पहुँचा।

महान् राजे श्री ने विक्रम के शुभागमन पर सारे नगर को तोरण एवं बन्दनवारों से सुसज्जित करा दिया था। स्थान २ पर विजयकेतु एवं प्रमुख प्रवेशद्वारों की कलाकौशल युक्त रचना विजयी योद्धाओं के मनको आकर्षित कर रही थी चारों ओर से पुष्प वर्षा हो रही थी। गली गली में अभिनन्दन गीत गाये जा रहे थे। सभी हर्षोन्माद में प्रसन्न एवं मतवाले थे।

राजे श्री स्वयं राज प्रासाद के प्रवेश द्वार पर मणि जटित हेम थालों में मंगल साज सजाये, वीर सेनानियों एवं प्रमुख वीरों के उन्नत भालों पर चन्दन अक्षत एवं कुंकुम चढ़ा कर मानो सभी की वीर पूजा कर रही थी। सारी सेना महान् राजे श्री का अभिवादन करती हुई अपनी आन्तरिक श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित कर रही थी।

सब के पश्चात् महाराज विक्रम अपने कतिपय सेनापतियों के साथ अश्वारोहण किये हुए राजे श्री की सौम्य दृष्टि के सामने आ खड़े हुए। उन सब की पूजा के पश्चात राजेश्री ने महाराज विक्रम की वीर पूजा करते हुए कहा—"यह शुभ महोत्सव महाराज का दर्शन पाकर सफल हुआ।"

राजे श्री की दृष्टि एकाएक विक्रम के मुखमण्डल पर गड़ गयी। उसने अनुभव किया जैसे विक्रम किसी मुरझाये पुष्प की मलिनता हों।

राजे श्री का अनुमान था कि विजय--श्री प्राप्त कर लौटने वाले विक्रम हर्षो द्वेग से परिपूर्ण होंगे एवं उनका नयनाभिराम सौन्दर्य द्विगुणित हो चुका होगा, किन्तु नीरस हत्या का पाप विक्रम के जीवनकी सारी लावण्यता को सोख चुका था। बादलों की भाँति गरजती हुई विक्रम की वाणी, चिर रोगी की तरह सांसों के धागे से टूट २ कर निकलती हुई जान पड़ती थी।

राजे श्री विक्रम को साथ लेकर राज महल में घुसी। साथ में प्रधान सेनापति, द्युमत्सेन, मालव नरेश, हेम प्रभा सुधन्वा एवं अरण्यक थे। इनके अतिरिक्त अनेक दास दासियां सेवा के अनेक उपकरणों के साथ वहाँ उपस्थित थीं। राज महल में पहुँचने के पश्चात् राजकुमारी ने समस्त आगत वीरों एवं सरदारों का स्वागत किया। तत्पश्चात् महाराज विक्रम ने कहा—सेनापति! आप समस्त सैन्य के साथ विश्राम के लिए पधारिए और द्युमत्सेन एवं मालव नरेश, अन्य मित्र-नरेशों के साथ समस्त सैन्य-दल का स्वागत सत्कार करेंगे और विजय-श्री के उपलक्ष में कुछ दिनों तक नित नये महोत्सव मनाये जायगे। स्नेह प्रभा दीन-दुखियों को अन्न-वस्त्र प्रदान करेगी। तत्पश्चात् मेरे स्वस्थ होते ही प्रजा प्रतिनिधियों के सम्मेलन की आयोजना की जावेगी और समस्त साम्राज्य में प्रजातंत्र सर-कार की स्थापना की जावेगी।

महाराज विक्रम के आदेशानुसार समस्त कर्मचारी एवं मित्र वर्ग महो-त्सव मनाने के लिए महाराज को अभिवादन करते हुए राज-प्रासाद से बाहर निकले—राजे श्री एवं हेम प्रभा विक्रम के निकट सम्पर्क में रह गयीं।

एकान्त में महाराज विक्रम ने कुछ क्षीण स्वर में कहा—महान् राजे श्री! प्रजावादियों की सफलता पर तुम्हें बधाई है।

राजे श्री विक्रम की ओर सप्रेम दृष्टि से देखती रही। विक्रम की बातों को जैसे उसने सुना ही नहीं। प्रकट में वह बोली—महाराज! आप इतने दुर्बल होंगे, मै यह बात स्वप्न में भी न सोच सकी थी। क्या कारण है?

कुछ सावधानी के साथ विक्रम ने प्रत्युत्तर दिया—राजे श्री! तुम मुझ पर रुष्ट हो। यह क्यों नहीं कहती कि अभी और कितनी ही पीड़ाओं को मुझे अपनाना होगा। क्यों, सच है न!

विक्रम ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि राजे श्री पर डाल दी। राजे श्री पुनः बातों के सिलसिले को तोड़ने की इच्छा से बोली—महाराज! पाटलिपुत्रि का खोया हुआ वैभव सूर्य आज पुनः अपने नवीन अरुणोदय से सम्पूर्ण साम्राज्य प्रकाशित करने वाला है। क्या ही अच्छा होता, यदि आप शीघ्र ही स्वस्थ हो जाते।

क्षीण हँसी में मुसकुराते हुए विक्रम ने कहा—महान राजकुमारी। बहुत थक गया हूँ। अब स्वस्थ होने की इच्छा नहीं है। जिन्दगी का हौसला, खून के धब्बों से घिनौना बन चुका है। मुझे मेरे अरमानों ने तोड़ डाला है। मैं पाटलिपुत्र केवल इसलिए आया हूँ कि अमित रक्तपात के पश्चात् सारी विजयश्री तुम्हारे हाथों सौंप कर निश्चिन्त बन जाऊँ।

राजे श्री कान लगाये विक्रम के प्रत्येक शब्द सुनती जाती थी। विक्रम की भावनाओं में महान् पश्चात्ताप बैठा हुआ जैसे उसकी जीवन-दिशा वैराग्य की ओर इंगित कर रहा था। राजे श्री इतना तो अवश्य जानती थी कि विक्रम के सङ्कल्प सुदृढ़ एवं अडिग होते हैं; इसलिये वह किसी निर्मम चेतना से हत प्रभ-सी होकर उद्विग्न हो उठी। प्रकट में अपने मनोभावों को छिपाते हुये बोली—महाराज! विजय-श्री का उपभोग वीरों के लिये शोभनीय है। मैं तुच्छ नारी इस महत्व पूर्ण विजय-श्री को क्या करूंगी।

तनिक उद्विग्न होकर विक्रम बोला—राजे श्री! यह विजय श्री प्रजा की है, जनता के सङ्गठित शक्ति की है। मैं तो कभी का हारा हुआ हूँ। हाँ, मेरी हार में जीत की कल्पना का भान केवल इस लिए हो रहा है कि एक दिन मैं सम्राट था। संभव है, तुम भी सोचती रही होओगी कि सम्राट-पद की लिप्सा के कारण ही मैं इस भयानक युद्ध में प्रवृत्त हुआ हूँ।

राजे श्री चाहती न थी कि वह इस विषय को लेकर विक्रम से अधिक बातें करे किन्तु एकान्त पाकर और बार-बार विक्रम द्वारा युद्ध का विश्लेषण सुन कर राजे श्री प्रथम बार विक्रम पर रुष्ट हुई किन्तु संयत भाषा में बोली—महाराज! आप सामूहिक हिन्सा के पक्षपाती न थे किन्तु करते क्या? आपका मेरे पिता प्रसेनजीत से व्यक्तिगत वैर था न! शायद

आपको याद हो, न हो, किन्तु एक बार जब मैंने आपसे कहा था कि मैं आपके हाथ रक्त-रञ्जित न होने दूंगी, तब आपने बल देकर कहा था "कि राजकुमारी! यदि सम्राट प्रसेन जीत को मिटाने में मुझे अनेक राजे श्री की रक्त धारा में स्नान करना पड़ा तो भी मैं न हिचकूंगा।"

"महाराज! मैं आपकी प्रतिज्ञा प्रथम बार सुन कर ही कांप गयी थी और मुझे एक प्रकार से निश्चय हो चुका था कि आप इस युद्ध में हिन्सा के आश्रय बिना कभी विजयी न होंगे फिर भी निश्चय के विरुद्ध मैं इस लिए प्रयत्न शील थी कि शायद हिन्सा का अजस्र-प्रवाह रुक सके! आज सारे कान्ड समाप्त हो चुके हैं। उसका परिणाम हमारे हृदयों में है। महाराज! मैं पूछती हूँ कि आपने जो कुछ किया, वह कहाँ तक उचित था।"

महान राजे श्री! काल-प्रवाह के सामने उचित-अनुचित का प्रश्न नगण्य है। कर्तव्याकर्तव्य का बोध होते हुए भी मनुष्य वही कर बैठता है जो अदृष्ट चाहता है। राजे श्री! तुम्हारे पिता के साथ हिन्सक युद्ध प्रारम्भ करते समय मुझे स्वयं ज्ञान था कि यह सब अनुचित हो रहा है किन्तु सम्राट प्रसेनजीत की राजाज्ञाओं को रोक सकने में असमर्थ होने के कारण, प्रत्येक संभव उपायों का सहारा लेकर भी जब युद्ध न टाल सका तभी मैं प्रसेन जीत का बिनाश करने को उद्यत हुआ और अन्त में उनके प्राण लेकर ही मेरी रण-पिपासा शान्त हुई।

क्षण भर के लिए विक्रम चुप होकर न जाने क्या सोचता रहा तत्पश्चात् वह पुनः प्रत्यक्ष बोला—महान् राजे श्री! तुम हृदय वाली हो। मैंने प्रसेन जीत की हत्या करके जितना बड़ा अपराध तुम्हारा किया है, उतना प्रजा वर्ग का कभी नहीं। क्या तुम इस अपराध के लिए मुझे क्षमा नहीं कर सकती?

विक्रम स्थिर दृष्टि से महान् राजे श्री की ओर देखने लगा और राजे श्री इस क्षमा-याचना को सुन कर भी कुछ निश्चय न कर सकी कि वह विक्रम जैसे याचक को क्या दे।

राजे श्री मन ही मन कुछ सोचने लगी। विक्रम और राजे श्री दोनों एक दूसरे के प्रति मौन थे किन्तु दोनो के हृदय किसी उथल पुथल में व्यग्र थे।

बड़ी देर पश्चात् पुनः विक्रम ने मौन भङ्ग किया और बोली—महान राजे श्री ! तुम्हारा रूखा मौन इस बात का द्योतक है कि तुम मुझे अक्षम अपराध से मुक्त नहीं कर सकती। अच्छा, न सही, किन्तु मैं दण्ड स्वीकार करने की दूसरी याचना करता हूँ।

राजे श्री बड़ी गम्भीर किन्तु शान्त वाणी में बोली—महाराज ! इस प्रसङ्ग पर हम लोग कभी फिर विचार करेंगे। अभी आज इस पर अधिक तर्क-वितर्क बढ़ाने का समय नहीं है। हाँ, मेरी यह प्रार्थना अवश्य है कि आप यथा शीघ्र स्वस्थ हो जावें ताकि इस विजय के स्थायी लाभ प्रजा जन उठा सकें।

विक्रम राजे श्री के प्रत्युत्तर से तनिक भी सन्तुष्ट न हुआ। वह तो राजे श्री के हृदय के उस स्तल का विश्लेषण कर रहा था जहाँ अपनत्व एवं स्वार्थ का निवास है किन्तु विक्रम के समक्ष राजे श्री हृदय के उस गोपनीय स्तल को दिखलाने में सर्वथा आना कानी जैसे कर रही थी !

विक्रम राजे श्री की मनो भावना को ताड़ कर कुछ निराश स्वर में बोला—राजे श्री ! ऐसा ज्ञात होता है, जैसे इस युद्ध के परिणाम ने हमारे और तुम्हारे बीच एक चौड़ी भेद-भरी खाई खोद दी है। भगवान जाने, हम दोनो एक दूसरे के निश्छल साहचर्य-सुख को पुनः प्राप्त कर सकेंगे भी, या, नहीं।

राजे श्री बदले में कुछ न बोली—विक्रम एक दीर्घ निःश्वास लेते हुए बोला—युद्ध मोर्चे से लौटते समय मुझे जिस बात का डर भयभीत कर रहा था, वह मेरे सामने आया। आज मैं कितने बड़े बोझ से दब रहा हूँ, इसे कोई नहीं जानता।

राजे श्री विदग्ध भाव से अपने नाखूनों द्वारा भूमि कुरेदती हुई बोली—महाराज ! अकारण की व्याख्या करने से कोई लाभ नहीं। संसार के सभी प्राणी अपने जीवन के सुख-दुख से कम या अधिक प्रभावित अवश्य हैं। जीवन के साथ २ कर्मफल बंधा हुआ है। इसलिए, बिना उफ़ किये सहते जाना ही श्रेयस्कर है। बीती बातों पर पर्दा डालिए।

विक्रम उठ कर खड़ा हो गया और चल कर राजे श्री के निकट खड़ा

होकर बोला—राजकुमारी ! क्या मुझे अब वायु परिवर्तन के लिए आवश्यक नहीं कि मैं कुछ दिनों के लिए किसी एकान्त स्थान में जाकर निवास करूँ—जैसी महाराज की इच्छा !

अच्छी बात है। मेरे पाटलिपुत्र से बाहर जाने का निश्चय सभी को सूचित कर दीजिए। साथ ही उन समस्त प्रजा-प्रतिनिधियों एवं प्रमुख नरेशों को एक बार अवश्य आह्वान कीजिए, जो इस युद्ध के प्रारंभ करने के पूर्व एकत्रित हुए थे। यदि उचित हो तो सबको इस राज-प्रासाद में आमंत्रित किया जावे—अच्छी बात है—कह कर राजे श्री एक ओर चली गयी।

चुपचाप विक्रम आराम कुर्सी पर लेट कर अनेक मनोभावों में विचरण करने लगा।

राजे श्री विक्रम के पास से लौट कर राज-प्रासाद के उस पार्श्व में पहुँची, जहाँ उसका निवास-स्थान था।

राजे श्री ने अपने प्रिय दास-दासियों को एक साथ बुला भेजा। उनके आने पर राजे श्री बोली—मेरा कुल सामान राज-प्रासाद से निकाल कर मेरे पितृ-गृह में ले चलो।

राज कुमारी की बात सुनकर उसके पुराने दास, जो वृत्ति में सेवा कार्य करते हुए भी राजकुमारी के आदर के पात्र थे, जिनमें से बहुतों ने राजे श्री को अपनी गोद में खिलाकर बड़ा किया था और जो सदैव राजे श्री पर वात्सल्य प्यार उड़लते रहते थे, हर्षित होकर बोले—राज कुमारी ! आपका पितृ-गृह में निवास करना हम लोगों को बहुत सुख-प्रद होगा।

राजकुमारी मुसकुराते हुए एक वृद्ध सेवक को सम्बोधन करके बोली—क्यों बाबा ! इस विशाल राज-प्रासाद में मेरा रहना क्या तुम्हें भाता न था ?

बूढ़ा दास यह जान कर कि राज कुमारी मेरी बात से कहीं अप्रसन्न तो नहीं हो गयीं, सहमते हुए बोला-भाने की बात आप न पूछें। आप जहाँ ही रहेंगी, वह स्थान मुझे भायेगा, किन्तु पितृ गृह में अपनत्व की माया है, बेटी ! यह राज-प्रासाद क्या है ? एक मुसाफिर खाना। जो

राजा होगा, वही इसका स्वामी बनेगा। यह महाराज विक्रम का था और आज फिर से उन्हीं का हो गया। इसमें हमारी मोह ममता कभी नहीं फँसी। मैंने आपको महाराज प्रसेन जीत के महल ही में पाला पोसा, और आपको वहीं देख कर प्रसन्न रहूँगा।

जनक-तुल्य वृद्ध दास की सरल वाणी में आत्मीयता की मधुर रागिनी सुन कर राजे श्री क्षण भर के लिए अपनी महत्ता भूल गयी और बूढ़े दास के कन्धों पर हाथ रखते हुए बोली—बाबा! जो तुम कहोगे, मैं वही करूंगी। देखना, मुझ पर कभी नाराज़ न होना। यदि कोई बात मुझसे बिगड़े, तो मुझे समझा देना। पिता जी अब नहीं हैं, पर तुम हो। तुम मुझे उसी भाँति प्यार करते जाना। अच्छा बाबा!

झुर्रियों से सिकुड़ा हुआ वृद्ध दास का मुखड़ा राजे श्री की आत्मीयत एवं कृतज्ञता से भरी वाणी सुन कर क्षण भर के लिए खिल उठा—वह मुसुकुराते हुए बोला—अच्छी बात है, राजकुमारी! मैं तो आपको देख कर उन्ही दिनों की याद करने लगता हूँ, जब आपको अपनी गोद और कन्धों में लेकर राज महल में घूमा करता था। वृद्ध दास, वृद्ध-नेत्र-कोटरों में अपनी प्रसन्न नेत्र-पुतलियों को चमका कर बोला—तो मैं सब सामान ढुलवाना प्रारंभ करता हूँ। बाद में मुझपर अप्रसन्न न होइयेगा, रानी बेटी!

नहीं, बाबा! तुम जितना शीघ्र हो सके सब सामान ले जाओ। मदद के लिए अधिक मनुष्यों की आवश्यकता हो, बुलवा लो। मेरी आज्ञा प्रधान दुर्गपति को सूचित करके यथा शीघ्र कार्य करो। ज्योंही सारी सजावट पूरी हो जाय, मुझे सूचना देना। मैं वहीं चल कर रहूँगी। थोड़े समय के लिए दो चार दास दासियों को छोड़कर अधिक की मुझे आवश्यकता नहीं।

राजे श्री यथा शीघ्र दास-दासियों को आदेश देकर पुनः महाराज विक्रम के पास लौट आयीं। महाराज विक्रम ज्यों के त्यों अपनी कल्पना में निमग्न अर्ध-निद्रित-से पड़े थे।

सरल-स्वर में राज कुमारी उनकी शान्ति भंग करती हुई बोली–महाराज ! योग्य सेवाओं के लिए आज्ञा दीजिए।

अपनी चिन्तित मुद्रा में परिवर्तन करने की इच्छा से विक्रम बोला—राजे श्री, चारों ओर महान् विजयोत्सव-सी धूम है। चलो हम लोग भी खुशी मनायें।

सचमुच महाराज !

हाँ सचमुच, राजे श्री।

राजे श्री कुछ सोचने लगी किन्तु विक्रम ने कहा—याद है।

'राजे श्री ! तुम्हारे कल कन्ठ से मनोहर संगीत लहरियां न जाने कब से प्रतिध्वनित नहीं हुईं। कभी २ युद्ध-भूमि से लौट कर सन्तापित हृदय को लिये, जब शिविर में लेट जाता तब अचानक तुम्हारी-स्मृति झकझोर कर मुझे विह्वल कर जाती थी और तुम्हारा चिर परिचित संगीत 'सर्वस हार' एकाएक हृदय में खटक उठता था। प्राण व्याकुल होकर तुम्हे हृदय के अन्तराल में खोजने लगते थे। तुम्हारी पावन-मूर्ति नेत्र दोलों में झूलने लगती थी।

'राजे श्री ! चिर-विरह के पश्चात् हम दोनों आज पुनः एक दूसरे के सन्निकट हैं। क्यों न उन्हीं कर्ण-प्रिय कड़ियों को एक बार सुना दो !

राजे श्री कुछ पिघली-सी और कुछ स्नेह द्रवित होकर अपना बाजा उठा लायी और भक्तिमय विनम्रता के साथ गा उठी—

तेरे मधुर मिलन की प्रियतम गाती रहूँ सदा संगीत। पीड़ाओं की निर्मल घड़ियाँ, खो जाएँ या बनें अतीत॥ एक लालसा, एक बासना, दरश पियासी रहूँ अधीर, अपलक अश्रु भरे नैनों में खोजूं मैं तेरी तस्वीर, मेरी वाणी में, जीवन में, मन में मधुर दुलार बसा, मेरे अन्तर के अणु-अणु में तेरा व्यापक प्यार हँसा, तू भूले तो मेरा क्या वश, मैं तो तुझे पुकारूँगी, तेरे ही चरणों में अपने, तन मन सर्वस हारूँगी।

विक्रम संगीत के सुमधुर भाव-स्पर्श से पुलकित होकर आनन्द विभोर हो उठा। राजे श्री मयूरनी-सी प्रेम-घन को देख कर नाच उठी। एक बार पुनः हत्यारे विक्रम में उसने अपने प्रियतम का अक्षुण्ण स्वरूप

झाँका। विक्रम भी राजे श्री के भाव परिवर्तन को देख कर विस्मय विमुग्ध हो उठा।

विक्रम जीवन में प्रथम बार—हाँ, प्रथम ही बार किसी भावुक इच्छा के वशवर्ती होकर राजे श्री के समीप जाकर उसका हाथ पकड़ते हुए बोला-राजे श्री ! वरदान मय उनींदे नैनों की कोर में अतृप्त स्नेह की सुषुप्ति नाच रही है। जागरण के अभिशाप से चिर-संचित कामना-बेलि को तोड़ मरोड़ कर न मुरझाओ। एक बार गंभीर नींद में सोने दो।

राजे श्री मंत्र-मुग्ध-सी विक्रम पर दृष्टि निक्षेप करते हुए बोली—क्या कहा महाराज ने ?

विक्रम ने राजे श्री की दृष्टि में अपनी दृष्टि डाल दी। उन्मुक्त दृष्टि को एकान्त में पसार कर राजे श्री ने अनुभव किया जैसे विक्रम अमर-लोक के किसी अननुभूत सुख को प्राप्त करने के लिए राजे श्री को मौन-आमंत्रण के साथ आह्वान कर रहा है, जिस सुखको आज तक राजे श्री पा नहीं सकी है, जिसकी तृष्णा में वह सन्तत खोयी-सी रही है और जिसे आज विक्रम हृदय खोल कर राजे-श्री के समक्ष बिखेर रहा है।

राजे श्री की स्मित स्थिर-दृष्टि सहसा झुक गयी। उसके नेत्रों के सामने घनीभूत माया की अचेतना छा-सी गयी। वह जैसे अस्फुट शब्दों में कह उठी—जादूगर ! मुझे विक्षिप्त न करो। मैं हारी, तुम जीते। मेरे प्राण विफल हैं।

राजे श्री ने विक्रम के हाथों से अपने हाथ छुड़ाने का निष्फल प्रयत्न करते हुए कहा—महाराज !

आगे वाणी निश्चेष्ट होकर जैसे चुप हो गयी। विक्रम राजे श्री का हाथ पकड़े हुए जैसे उस पर अपनी तृष्णा की सम्पूर्ण माया उड़ेल कर कह उठा—राजे श्री ! अपने स्वरूप की मोहक वीणा फूंक कर तुमने मेरे हृदय मृग को प्रेम-पास में जकड़ डाला है। मैं अब मुक्ति नहीं चाहता। मेरा हृदय-कुरङ्ग प्रति क्षण उस मोहक वीणा की कम्पन मय स्वर-लहरी में प्राण समर्पण करता जा रहा है। मेरी प्रेम-अहेरनी ! अब तुम मौन क्यों हो !

राजेश्री कुछ समझ न सकी, कुछ कह भी न पायी। नेत्रों की भाषा में विक्रम ने पूछा था और राजे-श्री की नत दृष्टि को उठा कर उन्ही से वह प्रत्युत्तर भी चाहता था, किन्तु सहसा किसी की पद-ध्वनि ने उन्हें सचेष्ट कर दिया। विक्रम राजेश्री के पास से उठकर अपने स्थान पर जा बैठा—राजेश्री अपने बाजे के सहारे सम्हल कर बैठ गयी। दोनों ने एक दूसरे को स्मित दृष्टि से देखा। राजे श्री भूमि कुरेदने लगी।

कमरे के अन्दर शशिप्रभा ने प्रवेश किया। वह दोनों के प्रति आदर भाव प्रकट करती हुई प्रत्यक्ष में राजेश्री से बोली—महान् राजकुमारी! प्रधान सेनापति तथा माननीय सदस्यों का आग्रह है कि विजयोत्सव के प्रति भोज में आप और महाराज अवश्य पधारें।

मैं तो चल सकती हूँ शशिप्रभा! किन्तु महाराज अपने विषय में स्वयं उत्तर दे सकते हैं।

मुसकुरा कर विक्रम ने कहा—मैं कुछ २ बीमार तो हूँ, पर आऊँगा।

महान् राजेश्री ने कटाक्ष करते हुए कहा—सचमुच महाराज! आप तो अस्वस्थ थे?

नहीं, राजेश्री सबके साथ मिलकर मिनटों और घन्टों में मैं स्वस्थ हो जाऊँगा।

मुसकुराती हुई शशिप्रभा वापस लौट गयी और प्रधान के समीप सूचना भेज दी कि महाराज विक्रम एवं महान् राजे श्री विजयोत्सव पर अवश्य पधारेंगे।

सन्ध्या समाप्त होते ही राजे श्री एवं विक्रम दोनो सभास्थल पर जा पहुँचे। खेल-कूद, मनोविनोद, नृत्य एवं संगीत आदि के पश्चात् प्रीति-भोज आरंभ हुआ और कई प्रहर रात्रि व्यतीत होने के पश्चात् विजयोत्सव समाप्त हुआ।

राजे श्री चुपचाप अपने महायान में आरूढ़ हो कर पितृ गृह चली गयी। महाराज विक्रम अकेले ही राज-प्रसाद की ओर बढ़े। मार्ग में उन्हें

ज्ञात हुआ कि महान् राजकुमारी अब अपने पितृ-गृह में निवास करने का सङ्कल्प कर चुकी हैं।

शयनागर में पहुँच कर विक्रम ने अपने प्रिय भृत्य अरण्यक को बुलाकर कहा—दो चार दिनों के अन्तर्गत तुम मेरे बाहर चलने की व्यवस्था कर डालो मैं वायु-परिवर्तन के निमित्त कुछ दिनों नगर से बाहर रहूँगा।

जो आज्ञा—कह कर अरण्यक जाने लगा किन्तु बीच ही में विक्रम ने रोक कर कहा—कल प्रभात होने के पश्चात् महान् राजकुमारी मालवेश, द्युमत्सेन एवं शशि-प्रभा को सूचना देना कि दोपहर का भोजन सब लोग एक साथ करेंगे।

अरण्यक आज्ञा सुनकर चुपचाप चला गया और महाराज विक्रम चुपचाप सो गये।

× × ×

दोपहर समाप्त हो चुका था।

महाराज विक्रम, द्युमत्सेन, मालवेश एवं हेम प्रभा सभी एकत्रित होकर हास-विलास द्वारा एक दूसरे का मनोरंजन कर रहे थे। वे सब महान् राजे श्री की प्रतीक्षा में समय काट रहे थे। सहसा अरण्यक ने आकर अभ्यर्थना करते हुए कहा—महाराज! महान राजे श्री अपने पितृ निवास-गृह से सूर्योदय के पूर्व ही राजधानी से बाहर कहीं अन्यत्र पधार चुकी हैं। उनके साथ उनका पुराना सेवक "बाबा" और दो सेवक दो सेवकिनी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। महान् राजे श्री घोड़े पर सवार होकर निकली हैं और दास दासियां रथ पर कुछ आवश्यक सामग्री के साथ हैं।

महाराज विक्रम ने बात काट कर पूछा—क्या किसी को कोई सूचना देकर भी गयीं हैं अथवा उनका जाना अनिश्चित-सा हुआ है।

बिल्कुल अनिश्चित, महाराज! वे एक मास पश्चात लौटने की इच्छा प्रकट कर के गयी हैं। हाँ जाते समय उन्होंने एक पत्र प्रधान सुधन्वा के

पास भेजा है, पता नहीं पत्र में क्या लिखा है। पत्र सुधन्वा के पास पहुँच चुका है।

विक्रम उक्त घटना पर मनही मन सोचने का इरादा कर ही रहा था कि सहसा प्रधान सुधन्वा भी राज प्रासाद में जा पहुँचा और विक्रम का अभिवादन करने के पश्चात् बोला—महाराज ! महान राजे श्री ने प्रजातंत्र सरकार की अध्यक्षता से स्तीफा देकर पाटलिपुत्र से बाहर कहीं चली गयी हैं।

विक्रम सुधन्वा के हाथ से त्याग-पत्र लेते हुए बोल उठा—क्यों प्रधान ! आप तो महान राजकुमारी के प्रमुख सलाहकार थे। आपको ज्ञात होना चाहिए कि राजकुमारी ने ऐसा क्यों किया ? प्रार्थना करते हुए सुधन्वा बोला—महाराज ! महान राजकुमारी ने इस सम्बन्ध में आज तक मुझसे अपना कोई विचार प्रकट नहीं किया। हाँ, प्रजातंत्र की अस्थायी सरकार बनाते समय जब राजकुमारी से अध्यक्ष पद पर बैठकर शासन करने की प्रार्थना की गयी थी, तब राजकुमारी ने असमर्थता प्रकट करते हुए केवल आपकी अनुपस्थिति तक के लिए अध्यक्ष का कार्य स्वीकार किया था। विशेष बातें त्याग-पत्र द्वारा ही सूचित होंगी।

विक्रम ने लिफाफे की सील-मुहर तोड़ कर त्याग पत्र पढ़ना प्रारंभ किया और पढ़ने के बाद सुधन्वा को लौटाते हुए बोला—ठीक है, आप इसे अपने पास रखें। दो चार दिन पश्चात् स्थायी सरकार की महासमिति का चुनाव होगा और तभी उक्त त्याग-पत्र पर विचार किया जायगा। तब तक राजकुमारी का कार्य-भार आप स्वतः सम्हालें।

महान राज कुमारी के इस प्रकार बाहर जाने की बात सबको बुरी लगी। प्रीति-भोज की सारी खुशियाली न जाने कहाँ लोप हो गयी। फिर भी विक्रम, सुमत्सेन, मालवेश, हेम प्रभा, प्रधान सुधन्या, प्रधान सेनापति एवं अन्य मंत्री वर्ग मिल कर प्रीति-भोज में एकत्रित हुए। मधुर-भाषण एवं मनोहर संगीत-लहरियों के पश्चात् प्रीति-भोज समाप्त हुआ। विदा होने के समय विक्रम ने समस्त मंत्रियों को बुलाकर स्थायी सरकार बनाने की शीघ्र ही प्रार्थना की।

प्रधान सुधन्वा ने उक्त कार्य के लिए तीन माह का समय मांगा। बड़े कष्ट के साथ विक्रम ने उक्त समय को स्वीकार किया।

राजे श्री विहीन होकर विक्रम को समय व्यतीत करना भार-सा प्रतीत होने लगा। सब को विदा कर विक्रम ने अरण्यक को बुलाया और बोला—अरण्यक ! महान राजे श्री मुझसे पूर्व ही चल पड़ीं अतः मेरी यात्रा स्थगित रहनी चाहिए।

विक्रम इसी प्रकार दिन व्यतीत करते हुए क्रम २ से तीन मास की अवधि व्यतीत करने लगा।

× × ×

महान राजे श्री पाटलिपुत्रि से बाहर निकल कर कुछ निश्चय न कर सकी कि वह किधर जाये, कहाँ जाये। वह चुपचाप तीर्थाटन करने का उद्देश्य अपने सेवकों पर प्रकट कर आगे बढ़ने लगी। कभी २ वह मैदानों में पहुँच कर अपने पड़ाव डाल देतीं और कहीं २ कई दिवसों तक एक ही स्थान में रहती। प्रायः वह निर्जन स्थानों अथवा गुरु-कुलों—या आश्रमों को खोजते हुए अपनी यात्रा जारी रखती थी। कभी-कभी वह अतिथि बन कर आश्रमों में पहुँचती और गुरुकुलों के अभिभावक गण राजे श्री का स्वागत सत्कार करते। कहीं २ राजे श्री अपरिचित-सी रहती और कहीं २ बिना परिचय दिये ही वह पहचान ली जाती थी इसी प्रकार राजे श्री की यात्रा जारी थी।

राजे श्री धीरे २ नगरों को दूर छोड़ती हुई पाटलिपुत्रि के उत्तर—पश्चिम कोन को लेकर बढ़ने लगी और लगभग एक मास पश्चात् वह हिमालय की तराई में जा पहुँची। राजे श्री ने दास दासियों को वहीं पर विश्राम-स्थल बनाने का आदेश देकर अपनी यात्रा स्थगित की।

राजे श्री के प्रिय सेवक बाबा ने आकर कहा—रानी बेटी ! यह स्थान बड़ा सुहावना है। चारों ओर शान्ति है। जी में आता है, यहीं बैठे २ भगवान की आराधना किया करूँ और दुनिया की सब मोह—प्रीति छोड़ बैठूँ।

महान राजे श्री सहज हास्य करती हुई बोली—बस ठीक है, बाबा! मैं भी भगवान का भजन करूँगी और यहीं पड़ी रहूँगी।

बूढ़ा बोल उठा—ना, राजकुमारी! तुम्हारे लिए यह स्थान हमेशा रहने के लिए नहीं है। तुम दो चार दिन रह कर वापस लौट चलना, रानी बेटी! मैंने अपने लिए इस जगह को चुना है क्योंकि मुझे अब मरने के सिवा और कोई काम करना बाकी नहीं है।

राजे श्री ने सहज भाव से कहा—बाबा! मरने की इच्छा भी क्या कोई इच्छा है?

बूढ़े सेवक ने कुछ निराशा प्रकट करते हुए कहा—रानी बेटी! अब मेरी इन्द्रियां शिथिल हो चुकी हैं। मन में राग भाव न जाने कहाँ लोप होता जा रहा है। चारों ओर शून्य का बोध होता है। कभी २ अपने आप मन बोल उठता है कि जैसे यह व्यर्थ ही जीवन-भार ढो रहा हो। मैं अपने मन की बात भी किसी से नहीं कहता। कभी २ मेरे साथ वाले मुझे कहते हैं कि बूढ़े की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, पागल होता जा रहा है। पर, मैं सबकी बातें सुनकर अपने मन में ही गुनता रहता हूँ और सोचता हूँ कि सब ठीक ही तो कहते हैं। जब मेरे शरीर में शक्ति थी, तब मुझ में भी एक प्रकार का नशा-सा छाया रहता था और इसी प्रकार दूसरे बूढ़े आदमियों को देख कर मैं भी समझता था कि बुढ़ापे में बुद्धि विकल हो जाती है पर रानी बेटी! आज तो मैं जीवन सन्ध्या को देख कर कभी २ रो उठता हूँ कि इस जीवन में खाने पीने और अपनी स्वार्थ-साधना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया। एक बार भी मृत्यु पर कोई विचार नहीं किया।

सहसा राजे श्री के कर्ण कुहरों में झाँझ की ध्वनि के साथ सामूहिक भगवन्नाम संकीर्तन करने की ध्वनि गूंज उठी—वह चुप होकर सुनने लगी—

तन से कहो मन से कहो, कृष्ण कहो राम कहो।
सीतापति राम कहो, राधावर श्याम कहो।
रघुकुल सुखकंद कहो, यादव कुल चंद कहो।
सत्चित् आनन्द कहो, निसदिन निर्द्वन्द रहो॥

शोभा के धाम कहो ॥
कोशल भूपाल कहो, गोकुल का ग्वाल कहो।
गो द्विज प्रतिपाल कहो, दुष्ट दमन काल कहो ॥
नीलाम्बुज श्याम कहो ॥
मुरलीधर श्याम कहो, शारंगधर श्याम कहो।
सुबह कहो शाम कहो, निशदिन निःष्काम कहो ॥
परम मधुर नाम कहो ॥
मुरली की मधुर तान, दुष्ट दमन धनुष बान
श्रवन मनन सुधा पान, सुजन सुखद अभय दान
लोचय अभिराम कहो ॥
त्रेता में राम बने, द्वापर में श्याम बने।
विविध रूप नाम बने, भक्तों के काम बने।
पूर्ण कला धाम कहो ॥
एक ब्रह्म विविध नाम, अज अनूप पूर्ण काम।
सुन्दर सुख कर ललाम, भ्रम तज भज अष्ट याम ॥
वेफल अविराम कहो ॥ (उद्धृत)

× × × ×

जब तक संकीर्तन होता, रहा तब तक राजे श्री चुपचाप कान लगाये पहाड़ी की ओर से आनेवाली पवित्र रागिनी को सुनती रही। बूढ़ा भी भगवत्प्रेम में अविरल अश्रु बहाता हुआ पुलकित होकर 'कृष्ण कहो राम कहो' कहकर गुनगुनाने लगा। संकीर्तन निरन्तर घन्टेभर होता रहा। उन पवित्र नामावलियों के मधुर गायन से पहाड़ी के चारों ओर का वातावरण भगवत्प्रेम की मधुरिमा से भर गया राजेश्री ने अनुभव किया कि जैसे वह राग-द्वेष हीन संसार से दूर उठ कर किसी पुण्य-लोक की पवित्र-भूमि में निवास कर रही हो!

जब चारों ओर शान्ति छा गयी, तब अत्यन्त प्रशान्त हृदय से राजेश्री बोली—बाबा! सच कहो, यह स्थान कैसा है!

बूढ़ा राजेश्री के चरणों में नत मस्तक होकर बोला—रानी बेटी मुझे

तो जैसा सुख आज मिला है, वैसा जीवन में और कभी नहीं मिला। मैंने बहुत बार भगवान की पूजा होते हुए देखी और अनेक बार उनके नामों का कीर्तन भी सुना, पर यह शान्ति पूर्ण परमानन्द मुझे बहुत ही आकर्षक लगा।

राजेश्री की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए बूढ़ा बोला—रानी बेटी! यदि तुम मुझे यहीं छोड़कर लौट जाओ, तो मेरा जनम सुधर जाय।

हँसते हुए राजेश्री बोली—अच्छी बात है, तुम्हें लेकर यही रहूँगी किन्तु एक बात है, बाबा! कल सुबह उठते ही पता लगाना चाहिए कि यह कीर्तन कहाँ हो रहा था। मेरा अनुमान है कि यहीं कहीं आस पास ही कोई ऋषि आश्रम होगा। क्योंकि अनेक भक्तिपूर्ण रगिनियों से गुञ्जित होकर सङ्कीर्तन हो रहा था। संभव है, आश्रम में बहुत से आदमी रहते हों।

बस, राजेश्री इतना कहकर अपने छोटे से तम्बू के अन्दर घुस गयी। धीरे २ रात्रि व्यतीत होने लगी। राजेश्री अपने जीवन की अनेक गुत्थियों को सोचती और सुलझाती हुई सो गयी।

प्रातःकाल जब राजेश्री सो कर उठ भी न पायी थी तभी उसका बूढ़ा बाबा अँधेरे मुह ही आश्रम की खोज में निकल पड़ा और एक प्रहर दिन चढ़ते वापस लौट आया बूढ़े की प्रसन्न मुख मुद्रा देख कर राजेश्री ने पूछा—क्यों बाबा! आश्रम का पता लगा?

"लग गया रानी बेटी"! अपने पोपले मुह से मुसकुराता हुआ बूढ़ा बोला—स्थान बहुत ही रम्य है। ऋषिकुल में अनेक ब्रह्मचारी शास्त्र-ज्ञान एवं योगाभ्यास में निरत हैं।

आश्रम में मैं जब पहुँचा, तब अनेक साधु वेषधारी युवक एवं वृद्ध पुरुष पूजा-अर्चना एवं सन्ध्या-वन्दन में निमग्न थे और बटु वेषधारी किशोर वयस के कुमार आशन प्राणायाम एवं अध्ययन में शान्ति पूर्वक तल्लीन थे।

मैंने स्नान करते हुए एक वृद्ध साधु को देखकर आश्रम के बारे में सारी

जानकारी प्राप्त कर ली। हाँ, आश्रम के प्रधान का दर्शन मैं न कर सका वह उस समय कहीं एकान्त में समाधिस्थ थे।

राजेश्री ने पूछा—क्या वहाँ के प्रधान गुरु से भेंट हो सकती है।

हो सकती है, रानी बेटी! किन्तु आश्रम में स्त्री-प्रवेश निषेध है।

यह कैसे ज्ञात हुआ? राजेश्री ने प्रश्न किया।

बूढ़े ने कहा मैंने एक वृद्ध साधु से प्रश्न किया था कि क्या कोई अपरिचित व्यक्ति आश्रम में कीर्तन के समय प्रवेश कर सकता है। उत्तर में साधु ने बतलाया कि प्रायः अनेक बार अपरिचित व्यक्ति आया करते हैं और आश्रम की व्यवस्था और रहन-सहन देखकर बहुत प्रभावित होते हैं किन्तु आश्रम के प्रधान गुरु ने ब्रह्मचारियों के कारण से स्त्री के प्रवेश करने में रोक लगा रक्खी है।

राजे श्री बड़ी देर तक स्त्री निषेधाज्ञा पर विचार करती रही। अन्त में वह बोली—बाबा। मैं सैनिक वेष से सज कर रात्रि समय संकीर्तन सुनने चला करूँगी—तब तो कोई अड़चन भी न उपस्थित होगी। बाँकी दास दासी निवास-स्थल पर विश्राम किया करेंगे।

बूढ़ा राज श्री की उक्ति सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ और कह उठा तो आज ही से क्यों न चला जाय, रानी बेटी।

आज ही से चलूँगी—तत्क्षण राजे श्री ने मुसकुरा कर कहा।

बूढ़े ने आतुरता वश किसी प्रकार दिन व्यतीत किया और सन्ध्या होते ही सैनिक वेषधारी राज श्री के साथ चल पड़ा। जैसे ही राज श्री वहाँ पहुँची, ठीक उसी समय कीर्तन प्रारंभ हुआ था। राजे श्री आश्रम की सम्पूर्ण ऋषि-प्रणाली देख कर अनुभव करने लगी—जैसे वह किसी लोक-विशेष में पुण्यात्माओं के समागम में बैठी हो।

धीरे २ प्रहर रात्रि व्यतीत हुई और कीर्तन समाप्त होते ही राजे श्री आश्रम के गुरु को प्रणाम करती हुई अपने निवास स्थान को लौटचली। आश्रम गुरु ने तीक्ष्ण दृष्टि से इन नवागत वृद्ध और कुमार को देखा और आशीर्वाद देते हुए कहा—वत्स! आत्मानन्द प्राप्त करो।

राजे श्री को ज्ञात हुआ जैसे आशीर्वचन में महान् आत्मीयता भरी पड़ी है।

राजे श्री इसी भाँति एक मास तक आती रही। उसे महान् आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई—एक दिन सुयोग प्राप्त कर कीर्तन के पश्चात् वह आश्रम-गुरु के निकट जा कर खड़ी हुई और पुरुष की भांति बोली—

ब्रह्मन् ! इन वासना सक्त इन्द्रियों की विषयेच्छा से मैं बहुत तङ्ग आ गया हूँ। देव ! इस देह-गेह आदि में जो मैं-मेरेपन का दुराग्रह है, उसी के वशवर्ती हो कर मेरी चित्-वृत्तियां अन्धी हो चुकी है। मैं प्रकृति-पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आपकी शरण आया हूँ। आप भागवत धर्म के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं। कृपया अपने सदुपदेशों द्वारा मेरी आन्तरिक बृत्तियां पवित्र कीजिए।

महात्मा ने उस अन्धकारमयी रजनी में क्षण भर युवक की ओर दृष्टि गड़ा कर देखा और अग्निकुन्ड को प्रज्वलित करते हुए कहा—भद्र ! मेरे विचार से अध्यात्म योग ही मनुष्यों के आत्यन्तिक कल्याण का मुख्य साधन है। इससे सुख और दुख की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। महामोह का निवारण करना ही जीव का अक्षय कर्म-व्यापार हो जाता है।

जिज्ञासु की भाँति युवक ने पुनः प्रश्न किया—महामोह का मूल कहाँ पर है, कृपया मुझे ठीक-ठीक बतलाइये।

महात्मा ने मुसकुरा कर कहा—युवक ! मन ही जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है। विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु होता है और परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है। जिस समय यह मन मैं और मेरेपन के कारण होने वाले काम-क्रोधादि षट् विकारों से रहित हो कर शुद्ध और सम अवस्था में आ जाता है, तभी जीव अपने ज्ञान, बैराग्य और भक्तियुक्त हृदय से आत्मा को प्रकृति से परे एक मात्र स्वयम् प्रकाश भेदरहित, सूक्ष्म, अखण्ड और निर्लेप (सुख-दुख शून्य) देखता है तथा प्रकृति को शक्तिहीन अनुभव करता है इसी कारण विवेकी-जन सङ्ग या आसक्ति को

ही आत्मा का अच्छेद्य बन्धन मानते हैं किन्तु जब वही सङ्ग या आसक्ति सन्तों—महापुरुषों के प्रति हो जाती है तब जीव के मोक्ष का द्वार खुल जाता है। इस प्रकार महामोह का निवारण होता है।

युवक एकाग्र चित्त से महात्मा के ज्ञानामृत को कर्ण द्वारों से पी रहा था। जब उसने सुना कि सन्तो या महापुरुषों के प्रति सङ्ग या आसक्ति मोक्ष के द्वार खोल देती है तब पुनः उसने जिज्ञासु भाव से प्रश्न किया—निर्वाण स्वरूप गुरु! जिसके द्वारा तत्वज्ञान होता है और जो लक्ष्य वेधने वाले बाण के समान जीव को ईश्वरत्व प्राप्ति कराने वाला है कृपया उस योग से मुझे दीक्षित कीजिए।

महात्मा ने स्नेह दृष्टि से युवक पर कटाक्ष करते हुए कहा—युवक! आत्म-दर्शन रूप ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और वही उसकी अहङ्कार रूपी हृदय-ग्रन्थि का छेदन करने वाला है ऐसा पण्डित जन कहते हैं। जिससे यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला एवं स्वयम् प्रकाश है और जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्य कारण रूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मों का आश्रय है, उस प्रधान तत्व को ही प्रकृति कहते हैं। पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा चार अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) और दस इन्द्रिय इन चौबिस तत्वों को विद्वान् लोग प्रकृति का कार्य रूप ब्रह्म मानते हैं।

इस प्रकार उस सर्व व्यापक पुरुष ने अपने पास स्वतः ही प्राप्त हुई अव्यक्त और त्रिगुणात्मिका माया को लीला से ही स्वीकार कर रक्खा है अर्थात् प्रकृति में अपनेपन का अभ्यास हो जाने से पुरुष प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाने वाले कर्मों में अपना कर्तृत्व मान लेता है। इस कर्तृत्वाभिमान से ही अकर्ता, स्वाधीन, साक्षी और आनन्द-स्वरूप पुरुष को कर्मों का बन्धन, भोगके विषय में परतंत्रता तथा जन्म-मृत्यु रूप दुःख परम्परा प्राप्त होती है। कार्य रूप शरीर, कारण रूप इन्द्रिय तथा कर्ता रूप इन्द्रियाभिष्ठातृ देवताओं में पुरुष जो अपने पन का आरोप

कर लेता है, उसमें पण्डित जन प्रकृति को ही कारण मानते हैं तथा वास्तव में प्रकृति से परे होकर भी जो प्रकृतिस्थ हो रहा है उस पुरुष को सुख-दुख भोगने में कारण मानते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार—

कार्य कारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृति सच्यते।
पुरुषः सुख दुःखाना भोक्तृत्वे हेतु सच्यते॥

युवक ने कहा—गुरुदेव! विज्ञानी इन चौबीस तत्वों के अतिरिक्त जिस एक काल रूप पचीसवें तत्व का वर्णन करते हैं, मैं उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ। कृपया इस विषय पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डालिए।

महात्मा बोले—वत्स! जनकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न होती है, वास्तव में वे पुरुष रूप भगवान ही 'काल' कहे जाते हैं। इस प्रकार जो अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीव रूप से और बाहर कालरूप से व्याप्त हैं, वे भगवान ही पच्चीसवाँ तत्व हैं।

युवक परमानन्द में मग्न होता हुआ बोल उठा—महत्तत्व द्वारा किस भाँति इस सम्पूर्ण विश्व की रचना हुई, प्रभो!

साधू बोला—जब परम पुरुष परमात्मा ने जीवों के अदृष्ट वश क्षोभ को प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति स्थान रूप अपनी माया में चिच्छक्ति रूप वीर्य स्थापित किया तो उसे तेजोमय महत्तत्व उत्पन्न हुआ। वत्स! लक्ष विक्षेपादि से रहित तथा जगत् के अहंकार रूप इस महत्व ने अपने में स्थित विश्व को प्रकट करने के लिए अपने स्वरूप को अच्छादित करने वाले प्रलय कालीन अन्धकार को अपने ही तेज से पी लिया।

अतः जो सत्व गुण मय स्वच्छ, शान्त, और भगवान की उपलब्धि का स्थान रूप चित्त है वही महत्तत्व है। वत्स! जिसे अध्यात्म में चित्त में अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ और उपास्य देव 'वासुदेव' हैं। इस प्रकार महत्तत्व 'वासुदेव' हैं।

वासुदेवः सर्वमिति, स महात्मा सुदुर्लभः (श्री मद्भवाद्गीता)

युवक महात्मा द्वारा की हुई विवेचना को सुनकर कुछ डूबने उतराने-सा लगा। क्षण भर शान्त रह कर महात्मा बोला—क्यों वत्स ? चुप क्यों हो ? क्या तुम्हारी जिज्ञासु-बुद्धि इस प्रकार प्रकृति पुरुष के ज्ञान को प्राप्त कर तुष्ट हुई ? अवश्य, देव ! किन्तु इस ज्ञान के प्राप्त करने के पश्चात् मैं एक सन्देह में पड़ गया हूँ ?

स्पष्ट कहो—महात्मा बोले—

युवक ने प्रश्न किया—महात्मन् ! जब कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य और एक दूसरे के आश्रय से रहने वाले हैं, तब तो प्रकृति पुरुष को कभी छोड़ नहीं सकती ?

नहीं, वत्स ! जिस प्रकार अरणि-मन्थन से उत्पन्न अग्नि अरणि खण्डों को जला कर भस्म कर देती है उसी प्रकार निष्कामता पूर्वक शुद्ध चित्त से पालन किये गये अपने वर्णाश्रम धर्मों से, बहुत समय तक श्रवण करने से प्राप्त हुई प्रभू की तीव्र भक्ति से, तत्व साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, व्रत नियमादि के सहित किये हुए ध्यानाभ्यास से और चित्त की प्रगाढ़ एकाग्रता से पुरुष की प्रकृति (अविद्या) दिन रात क्षीण होती हुई धीरे २ लीन हो जाती है। इस प्रकार तत्वज्ञान मग्न आत्माराम मुनि का प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

महात्मा चुप हो गये। युवक बड़ी देर तक कुछ सोचता और मन ही मन समझता रहा। तत्पश्चात् अनुनय पूर्ण वाणी में बोला ! गुरु देव ! मैं वैराग्य धर्म से दीक्षित होकर आपकी सेवा में जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। मेरा मन इस तपोभूमि की सहज पवित्रता में रम गया है। क्या मैं सद्गुरु की अनुकम्पा के योग्य नहीं ?

महात्मा उस एकान्त भूमि में, बादलों की भाँति गम्भीर हास्य द्वारा नीरवता को भंग करते हुए बोले—जिज्ञासु वत्स ! क्या मैं जान सकता हूँ कि तुम्हे किन कारणों द्वारा वैराग्य को अपनाने की इच्छा हुई है।

युवक ने कुछ संकुचित एवं क्षीण स्वर में कहा—देव ! ऐहिक भोगों की ओर मेरी किञ्चित् भी रुचि नहीं। मैं परम अशान्ति का अनुभव करते

हुए जी रहा हूँ। मुझे शान्ति चाहिए। मैं सात्विक सुख की खोज में आपके चरणों के आश्रय की याचना कर रहा हूँ।

महात्मा युवक की बातें सुन कर अपने आसन से उठ खड़े हुए और बोले—वत्स! आज की रात्रि जाकर विश्राम करो। कल तुम अरुणोदय के पश्चात् आश्रम में आना। कल तुम्हें दुःखों के निवारण रूप रहस्य मय योग का उपदेश दिया जायगा।

युवक निरुत्तर-सा होकर महात्मा को प्रणाम करता हुआ उठ खड़ा हुआ और अपने साथी वृद्ध पुरुष के साथ निवास स्थान को लौट चला।

मार्ग में युवक बोला—बाबा! कल मैं छद्म वेश धारण करने पर भी पहिचाना जाऊँगा। क्या करूँ?

बाबा ने कहा—बेटी, राजकुमारी! गुरु से कपट करना उचित नहीं है। बड़े लोगों का कहना है कि गुरु के साथ कपट पूर्ण व्यवहार करना पाप मय है और शास्त्र भी विरोध करते हैं।

उस रात्रि में राजे श्री क्षण भर के लिए भी न सो सकी। वह बार २ अपने हृदय से विचार करती कि वह जाये या न जाये किन्तु अन्त में उसने निश्चय किया कि जिसका चिन्तन वह जीवन की सूनी घड़ियों में कई बार करते २ निराश हो चुकी थी, आज वह दृष्टि के सामने है और उसका पावन दर्शन राजे श्री के लिए सुलभ है, इसलिए उसके चरणों में सारी श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेम उड़ेल कर जीवन को कृतकृत्य और सार्थक बनाना चाहिए। अस्तु

राजेश्री अरुणोदय के पूर्व ही उठी और स्नान-ध्यान एवं सन्ध्या वन्दन से निवृत्त होकर उसी पुनीत आश्रम की ओर चली। मार्ग में वन-भूमि की एकान्त मधुरिमा, शीतल, मन्द एवं सुगन्ध मय समीर के झोंके, अरुणोदय के ललित दृश्य राजे श्री की मनः शान्ति को द्विगुणित कर रहे थे। वह ताम्र पात्र की भाँति चमकती हुई काषाय रंग की साड़ी पहने बन-देवी-सी इठला कर जा रही थी। तैल-हीन केशों के बसन्ती झौंके खा कर इठलाने वाले तार स्वर्ण-रेख से चमक रहे थे। आभूषण हीन राजेश्री की अनुपम द्युति, घन पटल पर

चमकते हुए बाल सूर्य की लोहित प्रभा-सी बन-स्थली में बिखर रही थी। राजेश्री की आकर्षण मय सहज सुन्दरता महर्षि कण्व की तपोभूमि में विचरती हुई शकुन्तला का आभास दे रही थी।

राजेश्री तपोभूमि के समीप पहुँच कर ठिठक कर खड़ी हो गयी और बूढ़े सेवक से बोली—बाबा ! आश्रम में जाकर उन गुरु-रूप महात्मा जी से आज्ञा लेना कि राजश्री नामी स्त्री रहस्य-मय योग की दीक्षा ग्रहण करने को आश्रम के बाहर खड़ी हैं।

बूढ़े सेवक ने शीघ्र ही आश्रम में प्रवेश किया और महात्मा के समीप पहुँच कर दण्ड-प्रणाम करने के पश्चात् राजेश्री की प्रार्थना कह सुनायी।

महात्मा आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता के साथ उठ खड़े हुए और बूढ़े से बोले—क्या तुम्हारे साथ आने वाला किशोर युवक राजे श्री नामी पाटलि-पुत्र की महान् राजकुमारी हैं ?

अवश्य, देव ! आश्रम प्रवेश को स्त्री जाति के लिए निषेधाज्ञा जानकर वह अब तक सैनिक युवक बेश में आती रही हैं। उन्होंने यहाँ आकर अभूतपूर्व शान्ति प्राप्ति की है और आप के गुरु-मुख से अनेक बार शास्त्र-पुराण सुना है।

वह तेजोपुञ्ज रूप साधु आतुरता पूर्वक आश्रम के प्रवेश द्वार की ओर बढ़े। उनके पीछे अनेक साधु एवं ब्रह्मचारी वर्ग भी बढ़ चले।

राजेश्री द्वार पर दृष्टि गड़ाये वृद्ध सेवक के आने की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु बदले में गुरु-रूप महात्मा को आते देख राजेश्री का हृदय अनुपम श्रद्धा से भर गया। वह निर्निमेष दृष्टि से तेजस्वी साधु का दर्शन करते हुए आदर प्रदान करने का लौकिक शिष्टाचार भी भूल गयी। महात्मा ने निकट आकर राजेश्री के शीश पर वरदहस्त रखते हुए गम्भीर किन्तु मधुर-वाणी में कहा—मगध साम्राज्य की महान राजकुमारी राजेश्री का हार्दिक स्वागत है !

राजे श्री महात्मा को करबद्ध अभिवादन करते हुए उनके चरणों में लोट गयी।

महात्मा ने आश्रम के समस्त साधु गणों को पुकारा। राजेश्री महात्मा के चरणों में दृष्टि गड़ाये उनके सामने खड़ी हो गयी। साधु ने आश्रम के वयोवृद्ध साधु पुरुषों एवं ब्रह्मचारियों को सम्बोधित करते हुए कहा—आपलोगों के सम्मुख मगध साम्राज्य को प्रजातन्त्र स्वराज्य में बदलनेवाली महान् राजकुमारी राजेश्री पधारी हैं। आपलोग स्वस्तिवाचन एवं पुण्य श्लोक आशीर्वादों द्वारा महान् राजकुमारी का हार्दिक अभिनन्दन कीजिए।"

क्षण भर में चारों ओर से राजेश्री की महानता के गीत अनेक कण्ठों से मुखरित होने लगे। राजकुमारी ने अनुभव किया जैसे उसकी कृतियाँ तपोभूमि में उसके आगमन के पूर्व ही से गायी जाती रही हों।

राजकुमारी ने समस्त आश्रमवासियों के सम्मुख नतमस्तक होकर प्रणाम किया और बड़ी ही शिष्ट भाषा में बोली—

गुरुजन! मैं एक तुच्छ नारी हूँ। मेरी प्रशन्सा के गीत मुझे और भी उपहासास्पद बना रहे हैं। मैं आप लोगों के पुण्य दर्शन द्वारा अपनी सन्तप्त आत्मा को शान्त बनाने आयी हूँ।

महात्मा ने राजेश्री को साथ लेकर यज्ञशाला में प्रवेश किया। अनेक कुशल-प्रश्न के पश्चात् महात्मा बोले—महान् राजेश्री!

कल मैंने आपको रहस्यमय योग के उपदेश करने की इच्छा प्रकट की थी, क्या आप उसे सुनने को एकाग्र चित्त हैं?

राजेश्री विनीत भाव द्वार अपनी सहल जिज्ञासु वृत्ति प्रकट करती हुई महात्मा जी की ओर एकाग्र दृष्टि से देखने लगी। आश्रम के सम्पूर्ण साधु-जन भी वहीं बैठ गये। महात्मा बोले—श्रीमद्भागवद्गीता के अनुसार—

योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गत्यकत्वा धनञ्जय
सिद्ध्यःसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म सु कौशलं॥

अर्थात् हे धनञ्जय! आसक्तिको त्यागकर सिद्धि असिद्धि में समान बुद्धि वाला हो कर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। यह समत्व भाव

ही योग के नाम से कहा जाता है। समत्व बुद्धियुक्त पुरुष पाप, पुण्य दोनों को इसलोक में त्याग देता है इसलिए समत्व बुद्धि योग के लिए ही चेष्टा कर। यह समत्व बुद्धि रूप योग ही कर्मों में चतुरता है अर्थात् कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

महान् राजकुमारी ! योग, कर्मयोग समत्वयोग, बुद्धि योग अथवा निष्काम योग सभी एक ही हैं और कर्मफल से अनासक्त रहकर द्वन्द्वों के परे रहकर कर्मकरना श्रेय है क्योंकि देहधारी पुरुप के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्म नहीं त्यागे जा सकते, इससे जो पुरुप कर्मों के फल का त्यागी है। वही त्यागी है, ऐसा शास्त्रवचन है इसलिए महान राजकुमारी ! कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय कर्म जो संयोग वश प्राप्त होता है और जो स्वरूप से सकाम होने पर भी यदि न किया जाय तो दूसरों को कष्टदायक होता है या न करने से कर्म उपासना की परम्परा में बाधा पहुँचती है, ऐसी अवस्था में स्वार्थ का त्याग कर के केवल लोकसंग्रह के लिए कर्म कहना सकाम कर्म नहीं है।

महान् राजेश्री साधु-मुख से निकले हुए उपदेशों को हृदय से ग्रहण करती हुई बोल उठी—महात्मन सत्य तो यह है कि युद्ध जनित हिंसा मय विजय ने मेरी जीवन तंत्री के तार-तार तोड़ डाले हैं इसलिए सामाजिक जीवन व्यतीत करने की भावना मर चुकी है।

मैं जानता हूँ साधु ने कहा—मगध साम्राज्य की शासन-प्रणाली पलटने में आपका कोमल हृदय घायल हो चुका है किन्तु अदृष्टवश क्षोभ को प्राप्त हुई सामूहिक हिंसा का कारण दैव है जिसके सामने मनुष्य की कुछ नहीं चलती। राजकुमारी ! जिस काल की गति ने सामूहिक हिन्सा की सृष्टि की उसी काल-प्रभाव द्वारा आपके अन्तः करण में प्राय-श्चित्त की भावना जागृत हुई है। बहुत अच्छा है कि आपका हृदय उत्पीड़न मय व्यवस्था का विरोधी है।

महान राजेश्री ! कर्म पथ पर बढ़िये और महाराज विक्रम की शक्ति बन कर लोक-कल्याण कारी कर्मों में जुट जाइये। आप युगधर्म की प्रवर्तिका हैं। आप के द्वारा भारत प्रजातंत्र के नव-सूत्रों को ग्रहण कर

जगद्गुरू की भाँति संसार के अन्य हिन्सक भू खण्डों को सत्य अहिंसा और न्याय का उपदेश करेगा। आप महाराज विक्रम की विजय-पताका बन कर भारत के गगन मण्डल पर उड़ती रहिए। विक्रम अपने अदम्य पौरुष द्वारा भारत पर छायी हुई सम्पूर्ण दुर्व्यवस्थाओं को दमन कर चूर कर देगा। प्रकृति और पुरुष का यह संयोग कल्याण कारी है।

राजेश्री ने देखा कि इस प्रकार भविष्यवाणी करते हुए साधु का गौर लौहित वर्ण तप्त काञ्चन की भाँति चमक उठा। वैराग्य का तेजोमय सन्निवेश मानो चमकती हुई सूर्य किरणों की भाँति साधु के रोम २ से फूट निकला। उस दैवी सौन्दर्य की कमनीयता देखकर राजेश्री के आकुल प्राण मनही मन कह उठे—देव! तुम्हें मेरी वासनामय दृष्टि पहले न पहचान सकी। तुम अपने कर्म से जीव से ईश्वर और नर से नारायण होते जा रहे हो। प्रद्युम्न! प्रियतम! देव! मेरे सर्वस्व!!!

"मेरे सर्वस्व" राजेश्री की वाणी से फूट निकला। साधु राजेश्री की राग मयी वाणी सुनकर मनही मन राजेश्री की भावना ताड़ गया; किन्तु बड़े ही दुलार भरे संयत शब्दों में कहना प्रारंभ किया—महान राजेश्री! आप वैराग्य की दीक्षा प्राप्त करना चाहती हैं किन्तु आपकी रागात्मिका वृत्ति ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। इस आश्रम की कठोरता राग वृत्ति के निर्मूल हुए बिना कोई सहन नहीं कर सकता। राग मय भाषा बोलना इस आश्रम में अपराध है। आप जिन अतीत स्वप्नों की माया में आज भी डूब उतरा रही हो, वे इन्द्रियों की राग वृत्ति निर्मूल किये विना कभी आपके जीवन-पटल पर से अन्तर्ध्यान न होंगे।

देव! फिर क्या करूँ? कुछ अधीर होते हुए राजेश्री ने कहा! साधु ने राजे श्री के अन्तःस्तल पर तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि डालते हुए कहा—मैंने आपको योग का उपदेश देकर यही बतलाया है कि सम्पूर्ण काम्य कर्मों को भगवान के प्रति समर्पण कर समय-समय पर भगवत्प्रेमी लोगों का सत्सङ्ग करें। ज्यों २ सत्सङ्ग के द्वारा बुद्धि शुद्ध होगी त्यों २ शरीर एवं रागात्मिका वृत्तियों की आसक्ति स्वतः छूटती जायगी।

ऐसा समझ कर प्रारब्ध के अनुसार देह गेह धन आदि का उपभोग

कीजिए किन्तु सञ्चय न कीजिए क्योंकि मनुष्यों का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जितने से उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनाता है वह चोर है। महान राजे श्री! इस तुच्छ शरीर को अन्त में कीड़ा, विष्ठा या राख की ढेर ही तो होना पड़ता है इसलिए अधर्म से बचते हुए वैदिक प्रवृत्ति पटक कर्मों का त्याग एवं निवृत्ति पटक भक्ति मार्ग या ज्ञान मार्ग का द्वारा आत्म साक्षात्कार करना ही श्रेष्ठ है!

'महात्मन! अधर्म को रोकने में किस प्रकार की भावनाओं और बुद्धि से काम लेना चाहिए? राजे श्री ने प्रश्न किया!

महात्मा बोले—धर्मज्ञ पुरुष अधर्म की पांच शाखाओं से बचने का शक्ति भर प्रयास करे—वे हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल। जिस कार्य को धर्म बुद्धि से करने पर भी अपने धर्म में बाधा पड़े, वह 'विधर्म' है। किसी अन्य के द्वारा अन्य पुरुष के लिए उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म है'। पाखण्ड या दम्भ का नाम 'उपधर्म' अथवा 'उप भी है' शास्त्र वचनों का दूसरे प्रकार से अर्थ कर देना 'छल' है और मनुष्य को अपने आश्रम के विपरीत स्वेच्छा से जिसे धर्म मान लेता है, वह 'आभास' है।

राजे श्री! आप भी 'आभास' के आश्रित होकर गृहस्थ धर्म पालन करने से विमुख हो रही हैं किन्तु आश्रम धर्म के प्रतिकूल जो संन्यासी पहले तो अर्थ, धर्म और काम के मूल कारण गृहस्थाश्रम का परित्याग कर देता है और फिर उन्हीं का सेवन करने लगता है वह निर्लज्ज अपने उगले हुए को खाने वाला कुत्ता है इसी प्रकार कर्म त्यागी गृहस्थ, व्रत त्यागी ब्रह्मचारी और गाँव में रहने वाला वानप्रस्थी तथा इन्द्रियलोलुप संन्यासी ये सब चारों आश्रम के कलङ्क हैं और व्यर्थ ही आश्रम का ढोंग रचते हैं। राजे श्री! एक बार अपने शरीर को अनात्मा, मृत्युग्रस्त, विष्ठा, कृमि एवं राख समझ कर, पुनः उसी शरीर को आत्मा मानना मूढ़ता है इस हेतु राग से वैराग्य को ग्रहण करना श्रेयस्कर है राग से वैराग्य पथ पर जाते हुए, सङ्कल्पों के परित्याग से काम को, कामनाओं के त्याग से क्रोध को, संसारी लोग जिसे 'अर्थ' कहते हैं उसे अनर्थ समझ कर लोभ को, और

तत्त्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिए। अध्यात्म विद्या से शोक और मोह पर, सन्तों की उपासना से दम्भ पर, मौन के द्वारा योग के विघ्नों पर और शरीर प्राण आदि को निश्चेष्ट करके हिन्सा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। आधि भौतिक दुख को दया के द्वारा, आधि दैविक वेदना को समाधि के द्वारा और आध्यात्मिक दुख को योग बल से एवं निद्रा को सात्विक भोजन, स्थान, संग आदि के सेवन से जीत लेना चाहिए।

उपनिषदों में कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियां घोड़े हैं, इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथी है, चित्त ही भगवान के द्वारा निर्मित बांधने की विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी है। ओं कार ही उस रथी का धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण और परमात्मा लक्ष्य है। इस ओं कार के द्वारा अन्तरात्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिए।

राजेश्री इस तत्वमय उपदेश को पाकर कृतकृत्य हो गयी। महात्मा के मुख मण्डल से उपदेश करते २ एक प्रकाशमय ज्ञान भाव चारों ओर बिखर गया। वह सुधा मिश्रित स्नेह स्वर मैं बोले—महान राजेश्री! आप महाराज विक्रम को अभी नहीं पहचान सकीं। उनके हाथ में राजदण्ड सुशोभित है इसलिए वह 'दुष्टस्य दण्डः' सुजनस्य पूजा' के सिद्धान्त को नहीं त्याग कर सके। इसी हेतु आप युद्ध जनित हिन्सा से घबड़ा कर जीवन के राजयोग पर प्रहार करने के लिए तुल बैठी, किन्तु तनिक विक्रम के जीवन-घटनाओं पर विचार कीजिए। आप भली भाँति समझ जायेंगी कि अनेक सङ्घर्षों के कारण युद्ध जनित राजनैतिक हिन्सा विक्रम के लिए अनिवार्य हो चुकी थी। सुशीले! मैं आपको पवित्र नारी-धर्म-पालन करने की अनुमति देता हूँ।

राजकुमारी ने साधु के चरणों में बारम्बार नमस्कार किया। इसके पश्चात् साधु वर्ग उठकर राजेश्री के आतिथ्य सत्कार की तैयारी में लग

गया। राजेश्री समस्त दिन आनन्द पूर्वक आश्रम में व्यतीत कर सन्ध्या समय अपने शिविर में पहुँची।

उस दिन से राजेश्री की आन्तरिक अशान्ति धीरे २ कम होने लगी एवं राजेश्री अपने दास-दासियों के बीच उस वनवासी जीवन में सुख पूर्वक दिन व्यतीत करने लगी।

× × × ×

राजेश्री से विलग होकर महाराज को समय व्यतीत करना अखरने लगा। यद्यपि नये शासन-विधान की रूप रेखा बनाने में विक्रम को अवश्य ही पर्याप्त समय व्यतीत करना पड़ता था, फिर भी शान्ति पूर्ण राजनैतिक वातावरण में अनेक व्यक्ति विक्रम के दाहिने अङ्ग बन कर इस कार्य में सहायक थे। दिन पर दिन व्यतीत होते जा रहे थे और प्रतिक्षण शून्य राज भवन में विक्रम को राजेश्री की स्मृति झकझोरती जा रही थी।

धीरे २ तीन मास समाप्त हो गया। नया शासन-विधान प्रजा की महा समिति ने बनाकर विक्रम के सम्मुख प्रस्तुत किया और विक्रम ने अपनी स्वीकृति देकर एक महोत्सव मनाने का आदेश दिया। प्रजा वर्ग के समस्त दलों के प्रतिनिधि साम्राज्य के चारों ओर से आकर पाटलि-पुत्रि में एकत्रित हुए और एक शुभ अवसर पर विक्रम ने नवीन शासन-विधान की घोषणा करने के पश्चात् अपने सम्पूर्ण अधिकार प्रजा प्रति-निधियों की समिति को सौंप कर सन्तोष की श्वास ली।

चारों ओर विक्रम की पवित्र कीर्ति का गायन होने लगा। राजेश्री और विक्रम समस्त प्रजा-जन के हृदय में निवास करने लगे। इसी घोषणा के पश्चात् पाटलिपुत्र की समस्त प्रजा धन-धान्य, विद्या बुद्धि लौकिक उन्नति में लग गयी। विक्रम का मन-मयूर इस भाँति प्रजा को सुखी देख कर नाच उठा।

जब विक्रम के जीवन की सबसे बड़ी जटिल समस्या इस प्रकार सुलझ गयी तब विक्रम धीरे २ राजेश्री के प्रगाढ़ चिन्तन में मग्न रहने लगा। वर्षों की सोती हुई रागात्मिका वृत्तियां सूने क्षणों में अपनी हलचल

से विक्रम को व्यथित करने लगीं। विक्रम कभी २ राजेश्री के बिना अपने को असहाय और अकेला समझने लगा!

क्रम क्रम से विक्रम की सम्पूर्ण चेतना राजेश्री की ओर एकाग्र होने लगी। विक्रम ने वर्षों पश्चात् यह समझ पाया कि जिस राजेश्री की उपेक्षा वह निरन्तर करता आया है, उसके बिना वह अब पल भर भी शान्ति पूर्वक नहीं जी सकता। राजेश्री का प्रभाव जाने अनजाने उस पर बढ़ता ही गया है। आज राजश्री ही उसके जीवन में चारों ओर से झांक कर उसे विस्मय-विमुग्ध एवं व्याकुल कर रही है।

एक दिन द्युपके से राजसी की खोज में चलने का निश्चित विचार कर के विक्रम ने महासमिति के सदस्यों को बुलाया और शासन सम्बन्धी आदेशों को देने के पश्चात् अपने एकान्तवास करने की भावना को उन पर प्रकट किया। महासमिति के सदस्यों ने सहर्ष विक्रम को कार्य भार से मुक्त कर दिया, किन्तु द्युमत्सेन एवं हेमप्रभा ने साथ २ चलने की प्रार्थना प्रकट की।

विक्रम ने मालव नरेश को महल में छोड़कर हेम प्रभा द्युमत्सेन एवं अरण्यक के साथ एक लम्बी यात्रा प्रारंभ की। साथ में कुछ थोड़े से सेवकों का समूह भी चौकसी आदि रखने के लिए चल पड़ा। इस प्रकार विक्रम यात्रा करते हुए राजश्री की ही भाँति वन्य भूमि एवं तीर्थ स्थलों पर रुकते बढ़ते राजेश्री की खोज में भी लगे रहे।

राज-काज से विराम प्राप्त करने के कारण विक्रम की अवस्था में साधारणतः बहुत परिवर्तन दीखने लगा, किन्तु आन्तरिक चिन्ता के कारण वह पूर्व की भाँति प्रसन्न न दिखलाई पड़ते थे। हेमप्रभा और द्युमत्सेन तो उनके एकान्त साथ में अत्यन्त सुखी रहते थे। वर्षों पश्चात् इस भाँति सबको निश्चिन्तिता प्राप्त हुई थी।

एक दिन विक्रम को एकान्त में पाकर द्युमत्सेन ने कहा—महाराज! अनेक सङ्घर्षों के पश्चात् हम सब निश्चित हुए हैं। मेरी इच्छा है कि एक बार आप काशी पधारें और हेमप्रभा के बिवाहोत्सव द्वारा हम सब मिल कर आनन्द मनावें।

विहँस कर विक्रम ने प्रत्युत्तर दिया—यही भावना मेरे हृदय में भी घर किये हुए है; किन्तु राजे श्री के एकाएक अलग रहने के कारण मुझे उन जिम्मेदारियों का उठाना बहुत कठिन-सा जान पड़ता है। दूसरे यह भी सत्य है कि एक बार हेम प्रभा के विवाह के प्रसङ्ग पर राजे श्री ने स्वयं कहा था कि वह हेम प्रभा की मा बन कर स्वयं विवाहोत्सव को मनायेंगी। क्या ही अच्छा होता, यदि राजे श्री भी इस विषय में अपना परामर्श दे सकती।

द्युमत्सेन शीघ्र ही बोल उठा—महाराज! महान राजे श्री उत्तर ओर यात्रा करती हुई हिमालय की ओर गयी हैं।

तुम्हें इस बात का कैसे पता है?

मैं मार्ग में पूछ तांछ करते हुए इसी निष्कर्ष से पहुँचा हूँ।

तब हम लोग भी उसी ओर चलें।

द्युमत्सेन ने प्रसन्न होकर यात्रा की दिशा उत्तर की ओर बदल दी और दो एक सेवकों को साथ ले कर वह विक्रम से अलग २ चलने लगा। कुछ दिनों पश्चात् द्युमत्सेन ने निश्चित सूचना एकत्रित कर ली और तब विक्रम से बोला—महाराज! महान राजे श्री का पता लग चुका है। वे नैपाल देश की तराई पर स्थित एक गुरुकुञ्ज के समीप निवास कर रही हैं। उधर से आने वाले कुछ साधुओं ने यह बात प्रगट की है।

विक्रम इस सूचना से मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ और द्युमत्सेन से बोला—क्या वे साधु गण हमें वहाँ तक पहुँचा नहीं सकते।

यदि आप चलना चाहें तो सहर्ष तैय्यार हैं। वे राजे श्री के सम्बन्ध में कहते थे कि जब से वे वहाँ पधारी हैं, चारों ओर से यात्री लोग आश्रम को आकर घेरे पड़े रहते हैं। राजे श्री की चर्चा इधर चारों ओर तेजी से हो रही है।

विक्रम को मन चाही वस्तु मिल गयी थी। वह उन साधुओं को साथ ले कुछ निश्चिन्त मन से यात्रा करता रहा। अन्ततः एक दिन राजे श्री के वास-स्थल में जा पहुँचा।

जब विक्रम अपने साथियों एवं सेवकों के साथ वन-स्थली पर पहुँचा

तो उसे राजे श्री की एकान्त निवास भूमि की रमणीयता एवं पवित्रता देख कर अत्यन्त हर्ष हुआ। राजे श्री उस समय वास स्थल पर न थी। विक्रम ने वहीं पर अपना डेरा डाला। सारी भूमि सामूहिक हलचल के कारण कोलाहल पूर्ण हो गयी।

राजे श्री के दास दासियों ने विक्रम की अभ्यर्थना करते हुए सब के ठहरने की व्यवस्था की। विक्रम शशि प्रभा और प्रद्युम्न के सिर पर सारा भार छोड़ कर एकाकी ही वन भूमि की ओर पयान किया।

विक्रम के हृदय में पूर्ण शान्ति थी, किन्तु राजे श्री से मिलने की आकांक्षा उत्सुकता वशात् बढ़ चली। वह निर्जन वन भूमि की लहराती हुई लता-वल्लरियों का एकान्त समागम देख कर मन ही मन राजे श्री को प्राप्त करने की भावना से बेसुध हो चला। वह अनिर्दिष्ट पथ पर बढ़ता ही चला गया। उसे धीरे २ यह भी भाव न रहा कि वह कहाँ और क्या करने जा रहा है। सहसा विक्रम ने देखा कि एक ओर से बहुत से हिरनों के झुण्ड कूदते फांदते आ रहे हैं और सारी वन-भूमि मृग मद के सुवासित वायु के झोंकों से सनकर अपूर्व मादकता की सृष्टि कर रही है।

विक्रम इस दृश्य को देखते २ खुली धूप में वहीं बैठ गया। चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर वन की शोभा को देखने लगा। पर्वतीय शीतल, मन्द सुगन्ध, पूर्ण समीर ने विक्रम के रोम २ में जादू भर कर उसे विस्मृत कर दिया। वह उसी भूमि में लेट कर विराम करने लगा किन्तु थोड़ी ही देर पश्चात् नींद के झोंकों द्वारा बेहोश हो गया।

इधर राजे श्री अपने 'बाबा' के साथ त्रिविध समीर के झोंकों के साथ उड़ती हुई वन्य भूमि की मृदुता में घूम रही थी। चारों ओर हिम कण पिघल कर मोती के दानों की भाँति सूर्य की रोशनी में चमक रहे थे। जब कभी हिरणों के झुण्ड निकल पड़ते राजे श्री उनके चल-चपल जीवन की सुन्दरता पर मुग्ध होकर उन्हें पकड़ने का प्रयत्न करती।

सहसा राजे श्री की दृष्टि एक नवजात मृग-छौने पर गयी। राजे श्री ने बाबा की सहायता से पकड़ कर उसे गोद में उठा लिया और हृदय के साथ चिपकाये हुए उसे प्यार करने लगी। बूढ़ा बाबा राजे श्री पर कटाक्ष

करते हुए बोला—रानी बेटी! भगवान करे, तुम्हारी गोदी शीघ्र ही सुकुमार लाल से भर जाय।

बूढ़ा मुसकुराने लगा। राजे श्री कुछ लज्जित-सी दूसरी ओर मुह घुमा कर मुसकुराने लगी। हृदय के परत में पुत्र की एक सूक्ष्म भावना उठ कर अपने आप ही हृदय में विलीन हो गयी। राजे श्री मृग-शिशु का चुम्बन करती हुई एकाएक सिहर उठी। उसे विक्रम की याद ने अनमनी कर दिया।

बाबा!—राजे श्री ने पूछा—हम लोगों को यहाँ आये कितने दिन हुए?

पाँच माह बीत चुके हैं, रानी बेटी!

बाबा! न जाने क्यों मुझे पाटलिपुत्रि की याद सता रही है।

तो लौट चलो न रानी बेटी।

कुछ क्षणों तक संकल्प-विकल्प करने के पश्चात राजे श्री बोली तुम जाकर शिविर उठा लाने का प्रबन्ध करो। मैं महात्मा जी से अन्तिम बार भेट करके आ रही हूँ।

बाबा बोल उठा—रानी बेटी! महात्माजी के चरणों में प्रणाम करने की मेरी भी इच्छा है। जैसी आज्ञा हो।

अच्छी बात है। तुम भी दर्शन कर सकते हो किन्तु शिविर में एक बार जाना ही होगा। तुम घोड़ों के साथ आना। मैं पैदल ही आश्रम की ओर चल रही हूँ।

"बाबा" को अपने समीप से विदा करने के पश्चात, राजेश्री गहन-वन में घुस पड़ी। राजेश्री के हृदय में विक्रम के प्रति घृणा एवं प्रेम का अन्त-र्द्वन्द्व चल रहा था। राजेश्री क्षण भर पूर्व तक विक्रम के लिए व्यग्र थी किन्तु 'बाबा' के जाते ही वह पुनः अनमनी हो गयी। निरपराध प्राणियों के हिन्सा की पीड़ा एक बार पुनः राजेश्री को झकझोर उठी। वह मनही मन से गुनते हुए वृक्ष वल्लरियों लता एवं पुष्पों को सम्बोधित कर कह उठी—"क्या तुम मेरे प्रेम पर विद्रूप हँसी से न हँसोगे? प्रद्युम्न ने प्रेम की पीड़ा से दहल कर सब कुछ त्याग किया और मैंने? उसी प्रद्युम्न को

ठुकरा कर विक्रम को अपनाया और आज उसी को प्राप्त करने की कातर पुकार होने पर भी उसकी ओर से उदासीन हूँ। इतना ही नहीं,.... !"

वह क्षण भर अवाक् रही। उसकी बरौनियों में आसुओं की धारा का अविरल प्रवाह वह निकला। वह विक्रम से कभी न मिलने की योजना पर विचार करते हुए वन के उस पार्श्व में पहुँच गयी, जहाँ से आगे बढ़ने का कोई पथ ही नहीं था। सामने एक दुर्गम घाटी थी और पग भर आगे गहरा खड्ड।

राजेश्री उसी खड्ड के किनारे एक ऊँचे शिला-खण्ड पर जम कर बैठ गयी। दिन व्यतीत हुआ, सन्ध्या आयी पर राजेश्री ज्यों की त्यों अपनी भावनाओं में गड़ी निश्चल बैठी रही। धीरे-धीरे नभ पथ पर चांद भी विहार करने लगा। राजेश्री गूँगी भाषा में अपने हृदय का रहस्य प्रकट करती हुई भावना की किसी अभेद्य दीवाल को लांघने का उपक्रम करने लगी किन्तु जैसे कृत-सङ्कल्प अनेक विकल्पों की छाया में धुंधला पड़ गया हो और राजेश्री को पुनः प्रारम्भ से अन्त तक विचार करने की आवश्यकता उठ खड़ी हुई हो।

राजेश्री के लिए सुख-सम्पत्ति पद और हुकूमत की तृष्णा जैसे कुछ थी ही नहीं। वह एक नारी का हृदय लिये सरलता से सोच रही थी कि क्या वह निर्मम पुरुष की छाया बनने के अनुपयुक्त ही रहेगी? वही है न पुरुष, जो अपने लिए सर्वस्व-समर्पण चाहता है किन्तु सर्वस्व समर्पण को सम्पूर्ण हृदय से अङ्गीकार कर नहीं पाता, करना नहीं चाहता। यह क्रय-विक्रय, समानता की बात, केवल मौखिक है, इसमें भावना की समानता नहीं। प्रेम का अविरल-स्रोत नहीं, प्रेम की पवित्रता नहीं। जहाँ प्रेम की पूजा और पुजाया केवल पार्थिव है, वहाँ प्रेम अपूर्ण है। फिर, चिर-उच्छ्वसित प्रेम की सन्तप्त-व्यथा तो पार्थिव प्रेम द्वारा कभी शान्त हो ही नहीं सकती। हाड़-मान्स का एक पुञ्ज-शुष्क धूल का छवि-जाल बना केवल एक मिथ्या भ्रम है। उसमें निर्झर प्रेम का अविरल प्रवाह नहीं"।

पीड़ा में गड़ी हुई राजेश्री बार २ सुनील आकाश पर दृष्टि डाल कर सिहर उठती थी। सम्पूर्ण बन शून्य था। धरित्री के ऊपर खेत मर-मर-

सी चाँदनी चमक रही थी। राजेश्री निस्तब्ध रजनी की इस अनुपम छटा पर दृष्टि डाले हुए बिकी हुई-सी ठगी-सी शून्य प्रापत के तट पर जीवन के अन्तिम निश्चय पर क्षण भर और सोच रही थी। उसका विह्वल मन चाँद की किरणों से पूछ रहा था कि इन अमृतमयी किरणों में वह कैसी निस्वर पीड़ा भरी हुई है, जो मेरे रोम-रोम में जीवन के प्रति एक सन्देश लेकर प्रवेश कर रही है। मरण की निर्मम निश्चलता में जीवन का मादक सन्देश देकर ये किरणें कहाँ विलीन होती जा रही हैं। मुझे इस समय जीवन के प्रति मोहानुरक्त करने की विडम्बना कितनी हीन ज्ञात हो रही है पर इस शून्य में वह किस निर्मन की स्मृति बन कर जीवन के मोह का निवारण नहीं कर पाती।

मन के इस प्रकार सङ्कल्प-विकल्प में बाधा देकर राजेश्री उठ खड़ी हुई—वह बुद-बुद शब्दों में कह उठी—"अब क्यों जिया जाय? किसके लिए?? विश्व वैचित्र्य के अमर प्रतीक ये चाँद और सूरज बारी-बारी से उदय और अस्त होते रहेंगे। इन्हीं की छाया के नीचे सृष्टि और विनाश का प्राकृतिक प्रवाह अविरल वेग से बहता रहेगा। चाँद और सूरज की किरणों का मादक-स्पर्श सदैव ही जीवन के प्रति ममत्व बिखेरता रहेगा। फिर, जीवन और मरण का व्यापार भी नित्य ही है। नहीं, अब न जियूँगी। बस हुआ, ममता के एक-एक ताग टूट चुके हैं। मृत्यु की गोद के सिवा मेरे जीवन की शान्ति कहीं नहीं। इस अनन्त की व्यापकता में शून्य और निःस्वर अस्तित्व का समावेश हो, यही अन्तिम साध, यही अन्तिम पुकार है।

राजेश्री किसी निश्चित आवेग के अद्भुत प्रभाव से जीवन की अन्तिम लीला का स्वयं कारण बन कर मृत्यु की गोद में सो जाने के लिए द्रुत वेग से दौड़ पड़ी। वह एक छलांग मार कर गहरे खड्ड के गर्भ में गिरने ही वाली थी, सहसा किसी ने राजेश्री को पकड़ लिया वह बोला—"इस निर्दय आत्म-हत्या का कारण?"

कौन? महाराज?? वह भयातुर एवं कम्पित स्वर में आश्चर्य अवाक होकर भूमि पर गिर पड़ी। उसकी नाड़ियां संज्ञा शून्य-सी हो गयीं। नेत्र-

कोरों में आँसू भरे विक्रम उसी एकान्त में बैठकर राजेश्री को पूर्व संज्ञा में लाने का प्रयत्न करने लगे।

विक्रम की वे रातें जो किसी मदीली तृष्णा में सार शून्य हो चुकी थीं, इतने दिनों पश्चात् जैसे एक बार पुनः आशा का संदेश लेकर आयी थी।

भूमि पर गिर कर राजेश्री बेहोश हो चुकी थी। कई मास पश्चात् विक्रम ने राजेश्री को देखा था। विक्रम पानी के छींटों द्वारा राजेश्री का मुख धो रहा था। लगभग आध घण्टे पश्चात् राजेश्री ने आंख खोल दी किन्तु अपने को विक्रम के गोद में पाकर पुनः उसने दृष्टि बन्द कर ली। विक्रम ने प्यार भरे स्वर में पुकारा—"राजेश्री" !

राजेश्री ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। विक्रम ने प्यार करते हुए उलाहने के स्वर में कहा—"निष्ठुर ! आज तुम्हें अपने किये का फल मिल चुका होता; किन्तु ईश्वरेच्छा विपरीत थी।"

"हाँ महाराज ! इस विपरीतता ने ही मुझे हत्यारे की प्रेमिका बनने को बिवश किया।" राजेश्री क्रुद्ध सर्पिणी-सी विक्रम को हृदय के पास डसती हुई बोली ? चोंट खाकर भी पीड़ा की उपेक्षा करते हुए विक्रम ने कहा—"प्रिये ! मैं स्वीकार करता हूँ कि हत्यारा हूँ। यदि मुझे अपने प्रेम-दान के अयोग्य समझो तो मुझे वञ्चित ही रहने देना किन्तु आत्म-हत्या का पाप अपने आप पर ओढ़ कर क्या मिलेगा ?"

"कुछ भी मिले किन्तु आपको किसी के व्यापार में अवाञ्छनीय हस्त-क्षेप करना उचित न था।"

"यह मैं कैसे मानूं राजेश्री और कैसे माने मन। अन्त में तुम जीवन की एक साध-एक लौकिक आकांक्षा बन कर मुझ में प्रवेश कर चुकी हो। मैं अपनी आंखों तुम्हे मरते हुए कैसे देख सकता था ? तुमने मुझे आज तक नहीं पहचाना, राजश्री ! मैं चोट खाकर करवटें बदलता रहा किन्तु हत्यारे मन के पाप से दबे होने के कारण तुम्हारे सामने खुलकर अपना हृदय नहीं रख सका। तुम मेरा परित्याग कर ही रहो, पर मेरी दृष्टि में रहो। प्रेम सम्बन्ध को त्याग कर, केवल मात्र कर्तव्य-पथ पर साझीदार

बनो फिर चाहे दूर ही रहो। एक हत्यारे की उपेक्षा के लिये आत्म-हत्या अनुचित है।" राजेश्री का हृदय ग्लानिसे, क्षोभ से भर उठा था। सचमुच, उसका मानिनी बन कर प्रियतम से प्रेम करना ही आत्म-हत्या का कारण था। वह नैतिक-स्तर से चाहे हत्या का समर्थन न भी करती; किन्तु विक्रम के सामने अनिवार्य हिन्सा के सिवा अन्य कोई उपाय न था। उसे चाहिए था कि वह विक्रम को क्षमा करती; किन्तु वह आत्म-समर्पण के मूल्य पर नैसर्गिक प्रेम की त्रिवेणी में निमग्न होना चाहती थी और विक्रम मुक्त हृदय से अपना मन्तव्य भी नहीं प्रकट करते थे। अस्तु,

इस प्रकार विक्रम के हृदय की पारिख पाकर राजेश्री स्वाभाविक लज्जा से गड़ी जा रही थी। वह अपने हृदय की भावनाओं को न्याय-तुला पर तोल कर समझ चुकी थी कि वे तुलना में हलकी हैं—अशुद्ध हैं। फिर भी स्वाभाविक लज्जा से साहस बटोर कर राजेश्री बोली—"महाराज! मुझे रहस्य के परिधानों से ढका व्यक्तित्व आकर्षक न था। कभी न जान सकी कि मेरे लिए भी आपके हृदय में कहीं स्थान है। अबूझा प्रेम कितना भयावह है।"

"इसे मैं क्या करूँ, राजेश्री! मैं तो न जाने कब से और फिर आज से, अभी से तुमसे तुम्हें पाने की भीख माग रहा हूँ।

राजेश्री का हतप्राभ, मलिन मुख अनुराग की अनुपम व्यञ्जना से चमत्कृत हो उठा। बड़ी २ गम्भीर आखों में प्रेम एवं लज्जा को भरे हुए राजेश्री बोली—"महाराज! क्या वर्षों का स्वप्न सत्य है? क्या मुझे जीवन में बार-बार तो न ठगना पड़ेगा?"

"कभी नहीं, प्रिये! यदि पवित्र प्रतिज्ञाएँ दैवी शक्तियों का साक्षी बनाकर जीवन और जन्मान्तर के लिए अटल हैं, तो विक्रम विश्वात्मा की शपथ खाकर तुम्हें जीवन सङ्गिनी के रूप में स्वीकार करता है।"

"प्रियतमे! पाप-पुण्य, सुख-दुख, धर्म-अधर्म आदि द्वन्द्वों में सर्वत्र मैं तुम्हारा साझीदार हूँ। चलो, हम दोनों अपने संयोग से ऐसे जीवन की सृष्टि करें, जिसमें समस्त वासनाएँ तृप्त हों। भोग में योग का, संग्रह में त्याग का और बन्ध में मुक्ति का प्रशस्त पथ खुल जावे।"

"प्राण प्रिये ! दोनों प्रकृति पुरुष के द्वैत भाव को भूल कर 'तादात्म्य' पद में प्रतिष्ठित हों और अनेक जन्मान्तरों के कर्म-बन्धन को छिन्न भिन्न कर दें ।"

"राजकुमारी बोलो ! इस बन्धन में बंधने को प्रस्तुत हो ?"

राजेश्री केवल इतना ही कह सकी—"देव ! मैं तुम्हारी हूँ ।"

विक्रम ने उठाकर राजेश्री को हृदय से लगा लिया और मद-भरी चितवन में चारों ओर देखते हुए बोला—"राजेश्री ! आज मेरा जीवन कितना उत्सव-मग्न है ? चलो, मृत्यु के मुख से तुम्हें बचाकर भगवान ने मेरे लिए अनुपम सौगात दी है। देखो, कहीं खो न जाना। अच्छा, हम लोग चल कर ईश्वर की प्रार्थना करें और प्रातः होते ही दीन-दुखियों के सहायतार्थ दान करें।"

राजेश्री जैसे नारी-धर्म से दीक्षित होकर लज्जा द्वारा जीवन की चपलता को ढके हुए कृतकृत्य हो चुकी थी। वह विक्रम का सहारा लेती हुई बोली—महाराज ! समीप ही तपोभूमि है। आज की रात्रि बिता कर वहीं महात्माओं के सहवास में कुछ दिन व्यतीत करें।"

"बड़ी अच्छी बात है" विक्रम ने कहा।

अर्धरात्रि के बहुत अधिक व्यतीत होने के पश्चात् दोनों विश्राम-स्थल की ओर लौट पड़े।

\+ \+ \+ \+

दूसरे दिन

राजेश्री और विक्रम दोनों चल कर उसी आश्रम में पहुँचे। राजेश्री तो पूर्व ही सबसे हिल मिल चुकी थी। हाँ, विक्रम के शुभागमन से पुनः सारा आश्रम हर्ष की मधुर ध्वनियों से गूंजने लगा। विक्रम आश्रम के अतिथि बनकर ऋषि महात्माओं के बीच पवित्र जीवन की पावन-श्री से अपने को विभूषित करने लगे। विक्रम ने आश्रम के गुरुको श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम किया विक्रम को देखकर प्रधान महर्षि ने सोल्लास आशीर्वाद देते हुए कहा—राजन् ! आप अपनी प्रकृतियों सहित गुरु, मंत्री राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना एवं मित्रों के साथ सकुशल रहें।

विक्रम आश्रम में इस प्रकार आशीर्वचनों द्वारा ऋषियों एवं साधुओं की कृपा प्राप्त कर बड़ी ही निस्पृह एवं मधुर वाणी में बोल उठा—गुरु जनों ! गुरु देव, जिन आशीर्वादों का मैं नित्याकांक्षी था, वे आप समस्त गुरुजनों द्वारा प्राप्त कर मैं कृयकृत्य हो चुका हूँ। अपनी भाग्य पर मुझे भरोषा न था और नहीं मैं सोच सकता था कि कभी किसी क्षण भी पाप पूर्ण जीवन के अनुतापों को पुण्यात्माओं के आशीर्वादों द्वारा शीतल कर सकूंगा; किन्तु निश्चय ही आज मैं भाग्य शाली हूँ।

विक्रम के पार्श्व में ही राजेश्री विराजमान थी। महात्मा ने दोनो को सम्बोधन करते हुए कहा—अहा ! आप दोनो मिल कर कैसी अनुपम शोभा की सृष्टि करते हैं मानो जीव और माया साक्षात् स्वरूप धारण कर मेरे सम्मुख बैठे हों। सम्राट ! राष्ट्र की आत्मा को अन्यायी एवं अनाचारी के हाथों से छीन कर आप दोनो ने कोटि त्रस्त हृदयों को स्वतंत्र एवं निर्भय बना दिया है। आज मैं आप दोनों की वीर-पूजा कर दोनो को अमूल्य उपहारों द्वारा विभूषित करना चाहता हूँ। परमात्मा ने मेरी आन्तरिक अभिलाषा पूर्ण करने के लिए दोनों को यहाँ भेजा है।

महात्मा ने एक क्षण राजेश्री एवं विक्रम के मधुर हास्य युक्त मुख को देखा और दोनो के हाथ लेकर एक दूसरे से मिलाते हुए कहा—आज इस साधु-समाज में मैं आप दोनो को योग मय जीवन व्यतीत करने के हेतु एक दूसरे के निकट किये देता हूँ। आप दो प्राण मिल कर एक आत्मा बन जाइए, यही मेरा आन्तरिक आशीर्वाद है।

मंत्र मुग्ध से विक्रम ने राजे श्री के हाथ को पकड़ लिया। चारों ओर से युगल प्राणियों की जय-जय कार गूंज उठी। महात्मा ने गम्भीर घोष करते हुए कहा—इस आश्रम का गौरव इसी में है कि सम्राटों के पावन संस्कार इसी शुभ भूमि में सम्पादित हो। आश्रम राष्ट्र की आत्मा बनकर अङ्ग उपाङ्गों को अपनी ज्ञान-ज्योति से भर दे। आश्रम के सन्देश में राष्ट्र नायक एवं नायिकाएं आश्रम धर्म के जीवन की दीक्षा लेकर तब जीवन के अनेक उत्कर्षों के साधक बन कर राष्ट्र का नेतृत्व करें।

तत्पश्चात् अपने शिष्यों की ओर घूमकर महात्मा ने कहा—साधु

गए ! सम्राट विक्रम एवं महान राजकुमारी राजेश्री का प्रणय-सम्बन्ध विवाह के रूप में परिणत होगा; अस्तु समस्त आश्रम बासी इस शुभ कर्म को सम्पादित करने में सहर्ष तत्पर हों। शुभ तिथि को मै प्रकट करूँगा।

राजे श्री अपनी तपस्याओं के फल-स्वरूप इस अनुपम वरदान को प्राप्त कर निहाल हो गयी। जैसे वह सुख के स्वर्ण-शिखर पर आरूढ़ होकर अमर-लोक से झड़ने वाले कल्प-वृक्ष के पुष्पों का चयन करने लगी। लज्जा के भार से उन्मत-मस्तक झुक गया। वह उन महात्मा के चरणों में दृष्टि गड़ाये भूमि कुरेदने लगी।

साधू ने बड़ी ही मर्म-युक्त वाणी में कहा—"सम्राट मातृ-पित-हीना महान् राजेश्री अपने नारी-हृदय को महान संयम के साथ देवता की पूजा का उपकरण समझ कर पवित्र बनाये रही है। आज वह हृदय पुष्प तुम्हारी पूजा का अभिन्न साधन बनकर तुम्हारे समक्ष समर्पित है। इस पवित्र समर्पण की लाज तुम्हारे हाथ है। देखना, एक कोमल हृदय मुरझाने न पावे। उसे सदा अपने प्रेम-रस से ताजा-टटका रखना।"

फिर महात्मा राजेश्री की ओर दृष्टि डाल कर बोला—"राजे श्री "तुम भी अपने सर्वस्व-समर्पण पर न इतराना। पति रूप में पुरुष नारी का सहायक, जीवन-सङ्गी एवं साक्षात प्रेम-प्रभु है। तुम्हारे इस समर्पण के हम सब अन्तरिक्ष के देवताओं के साथ साक्षी है।"

इस प्रकार विवाहोत्सव की परिणति का आदेश देकर पुनः विक्रम को सम्बोधन करते हुए महात्मा बोला—"सम्राट ? या प्रजा सेवक ! मेरी इच्छा है कि आपके शासन के अन्तर्गत समस्त प्राणी अभिवृद्धि एवं समृद्धि को प्राप्त हों। आप गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए यह न भूलें कि उस परम प्रेम-प्रभू की उपासना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष है। तपस्या प्रभु का हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आकृति है, यह अङ्ग है, धर्म मन है और देवता प्राण हैं। अतः कर्मठ बने हुए ईश्वर के अङ्ग-उपाङ्गों की उपासना कीजिए। साथ ही संसार-वृक्ष को असङ्ग-शस्त्र से काटते हुए मुक्त रहिए !"

उस महात्मा की उपदेशमय वाणी को सुन कर मंत्र-मुग्ध-सा विक्रम बोला—गुरुदेव ! आपके महा महिम वचनों से मेरे हृदय को बड़ी शान्ति मिली है। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि लोकवालों को भी चकित कर देने वाला ऐश्वर्य, सार्व भौम सम्पत्ति, अखण्ड शासन और यह जीवन भी मिथ्या है किन्तु राग रञ्जित जीव की वासना को निमू ल करना तभी संभव है, जब भौतिक सुखों की निस्सारता को भोगों के भोगने के पश्चात् जीव स्वीकार कर ले। इसी लिए प्रभो ! मैं राज-मार्ग पर चलने को उद्यत हूँ।"

मुसकुराते हुए साधु उठ खड़ा हुआ। विक्रम राजेश्री के साथ पीछे २ चलने लगा। आश्रम के चारों ओर अनेक विभाग एवं शालाएँ देखकर मन ही मन विक्रम बहुत प्रभावित हुआ। वह बोल उठा—"गुरु देव ! ऐसी तपोभूमियाँ पथ भ्रष्ट राष्ट्र-वासियों को ज्ञान वितरित करने में बड़ी सहायक होंगी। अतीत के ज्ञान-वैभव पूर्ण जीवन की झाँकी का यह दृश्य महान प्रशन्सनीय है, देव !"

महात्मा मुसकुराते हुए बोल उठे—सम्राट ! यदि यह आश्रम आपकी भावनाओं को कल्याण-पथ की निश्चित दिशा की ओर प्रेरित कर सका, तो मैं समझूंगा कि प्रेम-प्रभू मेरी तुच्छ सेवाओं से सन्तुष्ट हैं। सम्राट ! आप राज-दण्ड को धारण किये हुए हैं। आपने यदि अपनी शक्तियों द्वारा राष्ट्र को अनेक आश्रमों से भरपूर कर दिया तो भारत निश्चय ही जगद्गुरु के नाम को सार्थक कर देगा।

धीरे २ दिन ढल गया। महात्मा विक्रम एवं राजेश्री के आतिथ्य सत्कार के पश्चात् संध्या वन्दन से निवृत्त होने के लिए दोनों से विलग हो गये। उधर जब घोड़े लेकर राजेश्री का वृद्ध सेवक लौट कर आश्रम पहुँचा, तब विक्रम शिविर को वहाँ से हटाकर आश्रम के समीप स्थापित करने की आज्ञा दे राजेश्री के साथ प्रकृति की गोद में विहार करने के लिए चल पड़ा।

रात्रि के आगमन के साथ ही विक्रम एवं राजेश्री के साथी एवं सेवक सभी आश्रम के समीप ही शिविर बनाकर आनन्द पूर्वक आकर विश्राम

करने लगे। इस प्रकार सत्सङ्ग एवं भगवन्नाम सङ्कीर्तन से सबका समय आनन्द पूर्वक व्यतीत होने लगा।

+ + + +

आश्रम गुरु के आदेशानुसार एक दिन पवित्र लग्न में महान् राजेश्री एवं सम्राट विक्रम विवाह-सूत्र में बंध कर एक हो गये। विक्रम ने राजेश्री को प्राप्त कर जैसे सब कुछ पा लिया और राजे श्री विक्रम के जीवन की सहचरी बन कर जैसे अपने आपको कृतार्थ मान बैठी। चारों ओर आनन्द आशीर्वाद एवं बधाइयों की धूम-सी मच गयी। कुछ दिनों आश्रम में निवास कर विक्रम पाटलिपुत्र की ओर लौटे। आश्रम के सभी पुण्य-शाली साधुओं ने अपने पुनीत आशीर्वादों से राजे श्री का अंचल भर दिया।

पाटलिपुत्रि पहुँचने तक मार्ग में अनुपम उल्लास का अनुभव करते हुए सबों ने यात्रा समाप्त की। पाटलिपुत्र की जनता ने विवाहोत्सव बड़े समारोह पूर्वक मनाया और विक्रम ने प्रजा के हितार्थ अपना समस्त राज कोश एवं वैभव पूर्ण राज-प्रासाद दान कर दिया।

राज-प्रासाद त्याग कर विक्रम राजेश्री के पितृ-गृह में निवास करने लगा। राज-प्रासाद में प्रजा की महा समिति ने अनेक विभाग खोल कर उसे अपने अधिकार में कर लिया और राज कोश द्वारा अनेक उन्नति पूर्ण व्यवस्थाओं को चलाकर सार्व जनिक हित में धन व्यय किया जाने लगा। राजेश्री को पाकर विक्रम की जैसे सारी वासना तुष्ट हो गई। वह धर्म पूर्वक राजेश्री के साथ सुख मय जीवन व्यतीत करने लगा।

एक दिन जब राजेश्री अपने एकान्त में बैठे २ अध्ययन कर रही थी, विक्रम ने आकर राजेश्री के साथ आँख मिचौनी प्रारम्भ कर दी। राजेश्री कुछ तङ्ग आकर बनावटी क्रोध के साथ बोली—अच्छी बात है, मैं पाट-लिपुत्र छोड़ कर पुनः किसी ओर चल पड़ूँगी।

विक्रम ने हँसी करते हुए कहा—राजकुमारी! विवाह तो हो चुका अब दूर जाने से क्या लाभ!

वाह! तो क्या मैं विवाह के लिए उतनी दूर गयी थी?

अवश्य ! क्योंकि पाटलिपुत्र में रहकर विवाह हो नहीं सकता था।

क्यों नहीं हो सकता था ?

क्योंकि पाटलिपुत्र में प्रधान सुधन्वा का तिरस्कार करते हुए तुम्हें कुछ दुख होता ! क्यों राजकुमारी ! तुमने उस बेचारे के हृदय को तोड़ डाला !

कुछ खीझती हुई राजे श्री ने कहा—तो आप जाकर उसे सान्त्वना पहुंचावें।

मेरे सान्त्वना पहुँचाने से क्या होगा ? मैं राजेश्री थोड़े ही हूँ।

राजेश्री उठ कर जाने लगी किन्तु विक्रम ने बलात् हाथ पकड़ कर, अपने सहारे बिठा लिया और बोला यूं रूठ कर कहाँ जाना होगा ?

मुसकुराते हुए राजेश्री बोली—इस बार काशी जाऊँगी।

विक्रम राजेश्री की इस बात से एकाएक ऐसे खिल उठा जैसे कोई महान् सुख का आमन्त्रण दे रहा हो। थपकियाँ लगाते हुए विक्रम ने कहा—सचमुच प्रिये ! तुमने भूली हुई बात याद दिला दी। मैं तो अपने सुख में इतना भूला हुआ था कि हेम प्रभा के विवाह की बात ध्यान से उचट चुकी थी।

राजेश्री ने उत्सुकता वशात् पूछा—तो क्या कभी आपने भी इस पर विचार किया है।

हाँ हाँ राजेश्री ! मालवेश चुने हुए पात्र हैं। क्यों, ठीक है न।

बिल्कुल ठीक ! राजेश्री हर्षोद्वेग से पुलक उठी।

वह बोली—महाराज ! हेम प्रभा और मालवेश एक दूसरे को परस्पर उसी प्रकार प्यार करते हैं जैसे....

राजेश्री रुक गयी किन्तु विक्रम बोल उठा—'जैसे हम और तुम !" क्यों यही बात है न।

राजेश्री सकुचाते हुए बोली—महाराज ! मैं बहुत दिनों से लालायित थी कि हेम प्रभा का मालवेश के साथ शीघ्र विवाह हो; किन्तु आपको कार्य-व्यस्त देख कर मैं कुछ कहने में सहम जाती थी। अब आपकी जैसी आज्ञा हो।

मेरी आज्ञा भी वही है, जो तुम्हारी इच्छा है।

बस, क्या था। राजेश्री ने विक्रम के समक्ष द्युमत्सेन को बुलवा भेजा। ज्योंही द्युमत्सेन वहाँ पर आया, राजेश्री बोल उठी—प्रिय द्युमत्सेन! महाराज की इच्छा है कि यथा शीघ्र राजकुमारी हेम प्रभा का शुभ विवाह हो जाना चाहिए।

द्युमत्सेन तो निरन्तर इसी चिन्ता में डूबा-सा रहता था, एतएव राजेश्री के प्रस्ताव से हर्षित होकर वह बोला—मुझे करना क्या है, महान राजकुमारी! पिता जी की मृत्यु के पश्चात् मैंने अपना सारा बोझ महाराज पर डाल दिया है।

मैं केवल आज्ञा की प्रतीक्षा में रहता हूँ। मुझे जब जैसी आज्ञा मिलेगी, पालन करूंगा।

विक्रम बोला—द्युमत्सेन! तुम हेम प्रभा, एवं राजेश्री के साथ काशी चलो और वहाँ पहुँच कर विवाह की सम्पूर्ण तैयारियां करो। मैं मालवेश के साथ बारात लेकर काशी आऊँगा।

इसी बीच मालवेश को भी विक्रम ने बुला भेजा और आने पर विक्रम ने कहा—मालवेश! हम लोगों ने जिस प्रकार मित्रता पूर्ण समर्पण द्वारा एक दूसरे को प्रेम-पाश में जँकड़ लिया है, उस सम्बन्ध को और सुदृढ़ करने के लिए हेम प्रभा का पाणि-ग्रहण कीजिए।

मालवेश विक्रम को गुरु-भाव से मानते थे अतएव सङ्कोच एवं लज्जा वश वह कुछ न बोले।

विक्रम ने पुनः कहा—आप चुप क्यों हैं? मेरी बात का उत्तर दीजिए न!

सिर झुकाये हुए मालवेश बोले—महाराज की आज्ञा शिरोधार्य है।

विवाह के प्रस्ताव पर इस भाँति स्वीकृति मिलने से सबको परम प्रसन्नता हुई। क्षण भर में यह शुभ सन्देश सारी पाटलिपुत्रि में गूँज उठा।

सब लोग आपस में यह चर्चा करने लगे—देखें, मालवाधिपति

अपने राज्य जाकर विवाहोत्सव मनायेंगे, या पाटलिपुत्रि को ही यह सौभाग्य प्राप्त होगा ?

धीरे २ यह चर्चा विक्रम के कानों तक पहुँची। पाटलिपुत्रि की जनता का यह उत्साह देख कर एक दिन विक्रम ने सारी जनता को आह्वान किया और सभा स्थल में जनता का स्वागत करते हुए विक्रम ने कहा— आप लोग मालवेश के विवाह को सुन कर चाहते हैं कि विवाहोत्सव पाटलिपुत्र ही में मनाया जाय। एक प्रकार से आप सबका ऐसा सोचना न्याय पूर्ण है क्योंकि समूचे राष्ट्र की महासमिति के मालवेश सैन्य सदस्य हैं अतएव आप सबकी ओर से मैं मालवेश से प्रार्थना करता हूँ कि प्रथम विवाहोत्सव पाटलिपुत्र ही में मनाया जाय। तदुपरान्त विवाह के पश्चात् वर-वधू दोनों ही मालव देश को पधारेंगे।

मालवेश विक्रम की इच्छा के विरुद्ध कोई आनाकानी तो कर न सकते थे अतः दो शब्दों में वह बोल उठे-महाराज की आज्ञा सर्वोपरि है।

अस्तु, विवाह पाटलिपुत्र ही में होना निश्चित हुआ।

सम्राट विक्रम ने पाटलिपुत्र में ही विवाह-परिणत की समस्त धार्मिक क्रियाओं को पूर्ण किया और बड़ी धूमधाम के साथ बारात काशी के लिए रवाना हुई। राजा द्युमत्सेन ने हृदय खोल कर सम्राट विक्रम मालवेश तथा बारात के समस्त छोटे बड़े जनों का स्वागत किया।

राजेश्री ने हेमप्रभा की माता का स्थान ग्रहण कर सम्राट विक्रम के साथ कन्या दान दिया। द्युमत्सेन एवं हेम प्रभा दोनो मन ही मन राजश्री एवं विक्रम के इस वात्सल्य भाव को देखकर आनन्दाम्बुनिधि में गोते लगाने लगे।

हेम प्रभा को मालवेश मिले, मालवेश को हेमप्रभा। युगुल प्रेमियों की साध पूरी हुई। भरे अरमानों से दोनों ने एक दूसरे को आत्म समर्पण किया। हेम प्रभा नेत्रों की कोर से तिरछी दृष्टि फेंक कर असम बलिष्ठ मालवेश को निज पति रूप में पाकर कृतार्थ हो गयी।

सम्राट विक्रम, राजेश्री एवं द्युमत्सेन ने हेम प्रभा को अतुल सम्पत्ति के दहेज में दिया। दीन दुखियों को अन्न, वस्त्र एवं धन का दान प्राप्त

हुआ। विक्रम और राजेश्री इस पुण्य कार्य को सदनुष्ठानों द्वारा सम्पादित कर परम शान्ति एवं सौख्य के पात्र बने।

चारों ओर अतिथि एवं देव पूजा की धूम मच गयी। काशी की गलियों २ में आनन्द एवं सोख्योन्नाद से सारी जनता नाचने लगी।

राजेश्री एवं विक्रम के दर्शन के लिए असंख्य नर-नारी एकत्रित हुए एवं काशीराज द्युमत्सेन पर उनका अतीव वात्सल्ल प्यार देख कर सब लोग अपने राजा की भूरि-भूरि प्रशन्सा करने लगे।

हर्षोन्माद की पुलकावलियों से प्रत्येक हृदय झङ्कृत हो उठा। संगीत एवं विविध वितानों की मन मोदक शोभा ने महादेव शंकर की परम सुहावनी पुरी काशी को अमरपुरा के अक्षय सुख से भर दिया।

द्युमत्सेन एवं हेम प्रभा दोनो ने विक्रम एवं राजेश्री को माता-पिता भाव से पूज कर दोनो का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त किया।

जब बिदा-बेला आ उपस्थित हुई, तब विक्रम ने समस्त बारातियों एवं मालवेश को सम्बोधन करते हुए कहा—मालवेश! आज तक हमारा आपका मैत्री पूर्ण सम्बन्ध था, हेम प्रभा के पवित्र दान से वह सम्बन्ध बदल कर पुत्र-पिता जैसा हो गया है अस्तु हम अपनी अन्तरात्मा से नव-दम्पति के कल्याण की प्रार्थना करते हुए आपसे केवल इतनी प्रार्थना करते हैं कि हेमप्रभा के अपराधों को क्षमा करते हुए आप सदैव उसे अपना प्रेम-दान देते रहेंगे। हेम प्रभा एक वीराङ्गना है। उसने जिस प्रकार अपनी सेवा द्वारा मुझे और राजेश्री को अपने वश में किया, वह उसकी गुरु पूजा का प्रबल भाव महान् प्रशंसनीय है। मैं उसे अपनी आत्मा का पवित्र प्रेम समझते हुए आपको सौंप रहा हूँ।

बारात बिदा होकर पाटलिपुत्र की ओर रवाना हुई। सारी काशी जो उत्सव मग्न थी, वह हेम प्रभा के बिदा के समय बड़ी २ बूंदों में रो पड़ी। हेम प्रभा जैसे समस्त प्रजा वर्ग का प्रेम स्वरूप बन कर दूर-बहुत दूर जा रही थी। सबके हृदय में हेम प्रभा की स्मृतिमय छाया मात्र अवशेष थी। बारात के पाटलिपुत्र पहुँचते ही एक बार पुनः महोत्सवों का तांता जैसा बंध गया। इतनी उत्सव मग्न पाटलिपुत्र की प्रजा कभी न हुई थी। वर

वधू कुछ दिनों पाटलिपुत्र के राजप्रासाद में रहकर स सैन्य महोत्सव मनाते हुए मालव देश की राजधानी की ओर बढ़े।

राजेश्री एवं विक्रम दोनों ही मालवेश के साथ २ कुछ दूर तक पहुँचा कर वापस लौट आये। हेम प्रभा के वियोग से दोनों को महान क्लेश हुआ।

द्युमत्सेन कुछ दिनों अपनी राजधानी में रहकर प्रजाहितों को देखने लगे। इस प्रकार पाटलिपुत्र उत्सव मग्न होकर अमित समय के लिए अपने हित-चिन्तन करने वाले हितू-जनों से विलग होकर एक बार दय-नीय बन उठीं।

× × × ×

पन्द्रह वर्ष बाद

प्रजा-राज्य घोषणा के पश्चात् से अब तक राजे श्री के जीवन का रुपहला-सुनहला वरदानमय वह जीवन बीता था, जिसकी तलाश में वह ज़िन्दगी के अनेक सुख-दुख को बेलौसी से झेमती हुई विक्रम के निकट बढ़ रही थी। राजेश्री की सारी तपस्या, साधना एवं प्रच्छन्न तथा प्रकट शारीरिक-मानसिक वासनाएँ तृप्त हो चुकी थीं। इन पन्द्रह बरसों में उसने दिन को दिन न जाना, रात भी न पहचाना। एक मस्त बेहोशी भरी प्यास को तृप्ति के प्याले पिलाने में वह बेसुध रही। अरमानों के दोल को जीवन की सरस तागों से बांधकर वह अधखुली अधमुदी पलकों में सब कुछ तमाशा सारी दुनिया और उसके व्यापार देखकर भी अनदेखी-सी कर गयी। वह अपने ही हृदय के चहल पहल में अपने को ही भूल गयी।

ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि राजेश्री पतिवर्ता पुत्रवती, शक्तिवती, श्रीमती एवं अनुरागवती थी किन्तु एकाएक अदृष्ट वशात् क्षोभ को प्राप्त हुई। राजेश्री अपने सुखद-स्वप्न को भङ्ग होते हुए देख कर कांप उठी। न जाने कहाँ से-हृदय की जाग्रत-सुप्त भावना के किस निर्गम-स्रोत से एक अशुभ भावना बदली बन कर हृदयाकाश पर प्रच्छन्न घटा के रूप में घिर आयी। राजे श्री सुप्तावस्था में प्रियतम के शयन-कक्ष में ही चिहुँक उठी।

"प्रिये ! आज अचानक यह हृदय कंपा देने वाली कंपकपी से तुम कैसी झकझोरी गयी।"

नेत्र बन्द किये ही राजेश्री ने प्रत्युत्तर दिया—"कुछ नहीं, महाराज ! एक स्वप्न दुखद....अशुभ...अव्यक्त...

राजेश्री पूरी बात कह भी न पायी थी कि वह गूंगी-सी पुनः सो गयी। सोते हुए विक्रम भी निद्रा-मग्न हो गये-सुबह हुआ, राजेश्री पुनः अपने मादक-प्रभात की मस्ती से गुलाब की कलियों की पंखडियों से खिले अपने राजकुमारों के वात्सल्य-प्यार में प्रियतम से पुनः मिलने की नैसर्गिक आकण्ठा में निमग्न हो गयी। ज्यों का त्यों संसार और उसका व्यापार चलने लगा। राजेश्री अपने ही में निमग्न हो गयी। अचानक रात्रि का स्वप्न नेत्रों में नाच गया। राजेश्री उदास हो गयी। वह दिल बहलाने के लिए उठ कर जाने लगी। विक्रम की तस्वीर, मानो युग-युग की पहचानी हुई जीवन मधुर की प्रतिछाया की भांति उभर कर विलीन हो गयी। एक स्पष्ट छाया पीड़ा, व्यथा, जलन का अभिशाप ओढ़े राजेश्री मानस-दृष्टि में अङ्कित हो गयी। उसके उठते पांव रुक गये। उसने देखा—विक्रम भिक्षु का वेष धारण किये जाते हुए, जीवन से अनचाही विदा मागते मानो राजेश्री को अन्तिम बार देख कर-अव्यक्त पीड़ा की उलझन को, लेकर पीठ फेर, चल पडा।

राजेश्री पग भर आगे बढ़ गयी। मन से बोली—"पन्द्रह वर्षों में मैं नित्य ही उनके दर्शन एवं पावन-प्रेम की उत्कण्ठा लिये, प्रेम एवं विस्मय से विमुग्ध रही हूँ। उन्होंने भी ज्योतिर्मय प्रेम के सम्पूर्ण प्रकाश को मुझ पर डालकर मेरा बड़ा-हित एवं कल्याण किया है। आज अचिन्त्य-अदृश्य के निर्मम खेल की सूचना सी यह कौन विभीषिका हृदय के मर्म-स्थल पर डङ्क मार रही है ?"

राजेश्री आगे बढ़ गयी। दिनचर्या के सम्पूर्ण, काम्य कर्मों में निःसङ्ग भाव से जुटी, अन्तःकरण की पीड़ा में गड़-सी गयी। बिजली से कौंधने वाली मुख की चमक एकाएक खो गयी। वही अशान्ति, वैसी

ही पीड़ा, उसी तरह की कसक खटकने लगी। सारे दिन राजेश्री खोयी खोयी-सी रात्रि में विक्रम से मिलने की चिन्ता में डूबी रही।

मनचाही रात आयी। हसता हुआ प्रेम और शौर्य की प्रतिमूर्ति उसका साजन उसके पास आ खड़ा हुआ। ढोढ़ी हिलाते हुए विक्रम ने पूछा—"क्यों आज यह सूरत कैसी ?"

"कैसी है ?"

"अच्छी नहीं। अमावस्या की रात्रि-सी सूनी।

"हूँ !" कह कर वह गुम हो गयी।

खड़ा २ विक्रम क्षण भर कारण सोचने लगा। दूसरे ही क्षण ढपी पलकों को नीचे किये राजेश्री ने विक्रम का हाथ पकड़ा और पथ-प्रदर्शिका-सी आगे चल कर शयन कक्ष में जा पहुँची।

विक्रम राजेश्री द्वारा की गयी सेवा-सुश्रूषा का उपभोग करता हुआ राज काज एवं कर्तव्य से अलग हो, अपने को सुख की आलोड़ित लहरों पर सुलाने को उत्कण्ठित हो उठा। वह बाहुओं को फैलाकर राजेश्री को प्रेम करने को उद्यत हुआ-सा आगे बढ़ा। राजेश्री ठिठकी। हट कर दूर हो गयी। रहने दीजिए महाराज।

क्यों-क्यों राजे श्री ! यह शुष्क अनिच्छा कैसी ? रस पियो, रस में डूब जाओ।

वह राजेश्री के निकट आ गया। हाथ बढ़े, क्षण भर में राजेश्री विक्रम के बाहु-पाश में बध गयी। फिर भी, वह चुप थी। न तो उसकी ओर से कोई मौन आमंत्रण ही था और न प्रकट विरोध ही। क्या कहे वह ? दूर भी हो तो किससे ?

विक्रम बाण मारा, चिदग्ध-मोहित मृग-सा किसी अन्तर्पीड़ा की सिहरन से खिन्न होकर दूर जा खड़ा हुआ। "अच्छी बात है राजेश्री ! "वह बोला और कहते हुए चल पड़ा "मैं इस स्वप्न को भङ्ग कर दूंगा, करना ही पड़ेगा।"

लौटते हुए विक्रम को देख कर घबरायी-सी राजेश्री पीछे दौड़ी।

"कौन-सा स्वप्न, महाराज ! आइये तो ! कुछ भूल हु ई, क्षमा कीजिए;" वह बोली।

वह राजेश्री पर दृष्टिपात् किये बिना ही बढ़ता हुआ राजेश्री से कहता चला गया, "भूल तुम से कुछ नहीं, मुझ से भी नहीं। काल-प्रवाह की अविरल धारा में अनन्त स्वप्न और उतने ही सत्य बह चुके हैं, बह रहे हैं, आगे भी बहेंगे। उस धारा के सम्मुख किसी में टिकने की सामर्थ्य नहीं। जो आसक्ति से किसी मधुर आकांक्षा से चिपके हैं, वे भ्रम में हैं।'

राजेश्री पीछे २ चलती ही रही—कहती ही रही—"महाराज ! बोलिए तो। न जाने क्यों अज्ञात भय से मै कांप रही हूँ। किसी दुर्गम वेदना के खण्ड में गिरी जा रही हूँ। महाराज ! सहारा दीजिए, डूबने से बचाइए आह ! मैं मरी !"

ठोकर खाजर राजेश्री गिर पड़ी। उचटती दृष्टि से विक्रम ने सब कुछ देखा, किन्तु बे परवाह होकर राजेश्री से दूर होते हुए चला गया। एक हलकी मूर्च्छना के पश्चात् राजेश्री अपनी संज्ञा में आ गयी। विक्रम को न पाकर मणि हीन सर्पिणी की भाँति दीना होकर चुपचाप शयनागार में जाकर पलंग पर गिर पड़ी। क्या होगा ? वह कुछ न सोच सकी।

पन्द्रह वर्ष पश्चात् आज प्रथम बार विक्रम राजेश्री को अपने से विमुख करता हुआ चला गया। ये पन्द्रह वर्ष। रात दिन बाहर भीतर सर्वत्र राजेश्री की छाया की भाँति विक्रम साथ २ डोला। साथ २ यात्राएँ, खान-पान-शयन सब कुछ, सब व्यवहार एक साथ। यही न दुनिया है ! यही परिवर्तन है !! मानवी-चाह एवं लालसा के अस्तित्व का इतना ही सा गिना चुना समय है न ! बे रोक मन न जाने कब वायु की भाँति सर्वत्र व्याप्त होकर भी विपरीत दिशा में बह जावे। कौन जानता है ? किसे अपने संयम पर नाज़ है, अहङ्कार है ! !

राजेश्री को भूमि पर पड़ी छोड़ कर विक्रम अपने एकान्त वास में शिथिल-सा जाकर लेट गया। उसकी अन्तरात्मा अपने जीवन-इतिहास के अतीत पर दृष्टि डालती हुई मानो विक्रम से कह उठी—'विक्रम ! मुक्त पंछी ! ! क्यों प्रेम-जाल में फस कर तुमने अपने आपको खो डाला।

ये महल, ये खजाने, सब व्यर्थ हैं। नारी की तृष्णा में अपने आप को खो कर क्या मिला ? सभी वस्तुएँ, सभी भोग-पदार्थ, हृदय को उलझाने वाले सम्पूर्ण आकर्षण अन्त में कुछ काम न आवेंगे। आत्म-दर्शन के बिना जीवन की सारी प्रक्रियाएँ निष्फल सिद्ध होंगी।

विक्रम उसी दिन से कुछ खोया-सा—कुछ भूला-सा रहने लगा। उसकी अन्तरात्मा में संग्रह एवं त्याग का द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। वह राजे श्री से कटा-कटा रहने लगा। कभी वह सोचता—'बिना राजे श्री को सूचना दिये ही वह चल पड़े। किन्तु हाँ, राजे श्री बिना उसके नीरस-लता की भांति सूख जायगी। वह कर भी क्या सकता है ? यही क्या निश्चय है कि उसके न छोड़ने पर राजे श्री ही उसे न छोड़ेगी ? यह तो दुनिया है। सृष्टि और विनाश का क्रम चलता रहता है। अनचाहे भी, एक न एक दिन विलग होना ही पड़ेगा।

इसी उहापोह में विक्रम के तीन मास व्यतीत हो चुके। रात्रि आयी और सिद्धार्थ की भांति एक दिन विक्रम महान राजे श्री के शयन-गृह में अर्द्ध-रात्रि में प्रविष्ट हुआ। राजे श्री भर नींद सो रही थी। क्षण भर अवाक् एवं विस्मय-विमुग्ध-सा राजे श्री को देखता रहा। विक्रम का हृदय एक बार यह सोच कर ग्लानि से भर उठा कि वह बिना अपराध ही राजे श्री की शान्ति एवं सुख को छीन कर भागा जा रहा है। अरे, इस जगत में आखों का मेल जोल ही तो प्यार है। मैं वही वस्तु राजे श्री से छीन रहा हूँ। कैसे वह मुझे बिदा कर सकेगी ? शायद हृदय पर पत्थर रख कर शायद क्रूर-प्रियतम की बेरुखी का शिकार बन कर।

"किन्तु मुझे तो जाना ही जाना है। मेरी अन्तरात्मा भी तो रोती है। छोड़ने को उद्यत होकर भी राजे श्री के मोह को प्रेम-मय बन्धन को तोड़ नहीं तोड़ सकता......तब क्या हो ? अरे प्रेम के तागों को स्वयं क्रूर बन कर ही तो तोड़ना पड़ेगा। मेरी बारी अभी है। क्या हुआ, यदि उस बन्धन की खिली हुई फुलवारी पर मैं पतझड़ होकर आया ? कोई प्रकृति को रोक सकता है ? अन्तरात्मा की पुकार को कुचल सकता है ?! मुझे जाना ही जाना है। इस गृह वैभव की सकीर्ण दीवाल अनन्त में विचरण

करने वाले जीवात्मा के हेतु मोहमय विडम्बना है। वह जगत का चित्रकार एक एक पत्ती एक एक फूल को अङ्कित करता है, उनमें जीवन का रङ्ग चढ़ाता है। उन्हें पतझड़ के झोकों से उड़ा कर पद-दलित करता है—अस्तित्व भी निःशेष हो जाता है। ऐसे अनन्त में नन्हें जीवन के क्षण भर अस्तित्व की कहानी को प्रेम-पीड़ा की तीखी आँच में क्यों सुखाया जाय, क्यों जलाया जाय ?" निःसङ्ग और निर्मम बन कर क्यों न रहा जाय ? क्यों न जिया जाय ?? पर यह कौन जो अभाव की आहुति में जीवन को फूंक रहा है ?"

विक्रम राजे श्री को तीव्र अन्तर्वेदना से देख कर पिघला जा रहा था। नेत्र सहानुभूति एवं प्रेम-पीड़ा से भर कर शिशिर की रातों जैसी ओस की बूंदों मे बरस रहे थे। विक्रम का वक्षस्थल एवं वह काषाय वस्त्र जो वैराग्य का प्रतीक था, आँसुओं से तर था।

विक्रम तीव्र सर्प-दंशन जैसी पीड़ा से विह्वल होकर पुकार उठा—"राजेश्री !"

राजेश्री एकाएक नेत्र खोल कर बैठ गयी। "महाराज! आप !!" उसने विक्रम के वस्त्र पकड़ लिया किन्तु दूसरे ही क्षण विक्रम से नेत्र मिलते ही पिछड़ कर खड़ी हो गयी। उसने देखा–विक्रम की दृष्टि में प्रतिज्ञा थी। विक्रम के वेष ने ममता पर विजय करना ठानी थी।

जीवन-सर्वस्व के ऐसे संकल्प से राजेश्री भयभीत हो उठी। आवेग में उमड़ती हुई अन्तरात्मा गरज उठी—'देख राजेश्री! यह दृश्य भी देख। तेरा सर्वस्व, तेरे सुख-मय जीवन का वरदान, तेरा लोक-परलोक, तेरी दृष्टि के सम्मुख लुटने वाला है, खो जाने वाला है। इस में तेरे मौत का पैगाम है। तू इसे भी सुन।'

हृदय सम्हाल कर राजे श्री बोली—"महाराज !"

नेत्र बरस पड़े। राजेश्री गिर कर विक्रम के चरणों से लिपट गयी। "महाराज" वह बोली—"शायद वह प्रतिज्ञा आज भी याद हो, जब आपने कहा था मैं तुमसे तुम्हे पाने की भीख माग रहा हूँ।'

कहा था मैंने राजेश्री। उस समय तुम्हे प्राप्त करने की वासना से मोहित था।'

सम्हल कर राजेश्री ने कहा—"और आज वह वासना मिर्मूल हो चुकी है ? क्यों ? महाराज !"

त्याग बिना उसका निर्मूल होना असंभव है फिर, स्वेच्छा से या काल की परवशता से एक दिन यह अनूठा संसार भी छूट जायगा। तब राजे श्री ! उस संसार का परित्याग स्वेच्छा से ही क्यों न किया जाय ? जीव मोह-माया की ग्रन्थि में परवश होकर अनादित्व का अनुभव नहीं कर पाता। उसे जन्म-जन्मान्तरों तक मोह से बँधे नाना प्रकार के क्लेश उठाने पड़ेगे। इस हेतु निःसङ्ग बन कर इस बन्धन को छिन्न-भिन्न करना ही मुक्ति-पथ को प्रशस्त करता है। भोग हमारे जीवन को ही न भोगने लगें, इसके पूर्व ही उन्हें भोग कर त्याग करना ही श्रेयस्कर है। बोलो राजे श्री ! तुम मुझे मुक्त करती हो।"

आँसुओं में डहकती हुई राजे श्री बोली—प्राणेश्वर ! तुम उद्यत हो मुझे त्याग कर मुक्ति के लिए, किन्तु मैं ? मैं मुक्ति त्याग कर तुम्हें ही चाहती रही हूँ। मैं नारी हूँ, ममता-माया की बनी हूँ। मुझे मेरा मोह चाहिए। तुममें बल है, शक्ति है, तुम मोह-बन्धन को एक झटके में तोड़ रहे हो; किन्तु मैं निर्मम बन कर अपने अस्त्वि की कहानी को कैसे मिटा सकती हूँ। चाहे जहां भाग्य-वशात् जाना पड़े, चाहे स्वर्ग अथवा नर्क ही क्यों न हो, मैं साथ २ रहना चाहूँगी।

विक्रम ने कहा—"नहीं राजे श्री ! अन्तरात्मा से साधना-पथ में निःसङ्ग भाव से रहने की पुकार प्रबल हो उठी है इसलिए हृदय से मेरा परित्याग करो। मुझे आत्म-सिद्धि की खोज में बढ़ने दो। भोग चुका, जो कुछ सांसारिक सुख भोगना था।

राजे श्री कुछ न बोल सकी। दोनों एक दूसरे के दृष्टि-पथ से मानो बिछुड़ने के पूर्व एक बार पुनः मिल गये।

राजे श्री के मस्तक को वरद-हस्त से स्पर्श करते हुए विक्रम ने कहा—'मेरी रानी ! रात्रि निस्तब्ध है। सारा संसार सो रहा है। आकाश-

पथ पर चांद और तारे हमारी बिदा के समय साक्षी है। तुम अपने राजकुमारों के साथ प्रजा की सेवा करना और मानवता की पूजा मे अपने को उत्सर्ग करना।

विक्रम ने भीख की झोली राजे श्री के सामने फैला दी। तिरछी दृष्टि से देखते हुए राजे श्री ने धीमे स्वर मे कहा—"प्रियतम! मुझे जो कुछ देना था, वह एक बार ही तुम्हे समर्पण कर चुकी हूँ। अब मेरे पास है क्या? मै खाली हूँ। कुछ देकर कुछ पाने की आस अब नहीं है। मुक्ति-पथ के भिखारी को क्या दूँ?

"मुक्त होने का आशीर्वाद! प्राणेश्वरी!!

राजे श्री का गला भर आया पर अटकते हुए बोली—"तुम्हारा मुक्ति-पथ प्रशस्त हो; नाथ! तुम उज्ज्वल प्रकाश की भांति भूले भटकों को राह दिखाओ। तुम दुखी मानव को तारो और स्वयं भी तर जाओ।',

राजे श्री विक्रम के चरणों पर गिर पड़ी और अपने आंसुओं से अन्तिम बार चरण पखारती बोली—"जाओ, मेरे जीवन'धन! आज से मै अपना अधिकार तुम पर से हटाती हूँ। परमेश्वर करे, तुम 'तादात्म्य-पद,, मे प्रतिष्ठित होओ।

राजे श्री का गला रुंध-सा गया। विक्रम ने चमकते नेत्रों से अन्तिम बार राजे श्री को प्यार करते हुए आगे पांव बढ़ाया। जैसे ही विक्रम राजे श्री की दृष्टि से ओझल हुआ, एक भेद भरी सून्यता की पीड़ा से पछाड़ खा कर गिर पड़ी।

+